गीता मे परमोगुरुः

अर्थात

'गीता मेरा परम गुरु है'

(गीता के 700 श्लोकों का सरलतम हिंदी अनुवाद)

डॉ. राजेश कुमार भाटिया

ॐ

श्री परमात्मने नमः!

गीता मे परमोगुरुः

अर्थात

गीता मेरा परम गुरु है

(श्रीमदभगवद्गीता के सभी 700 श्लोकों का
यथारूप सरलतम हिंदी अनुवाद)

अनुवादक

डॉ. राजेश कुमार भाटिया

गीता माहात्म्य - गीता की महिमा!

"गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे सारमुत्तमम्!
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं, गीता मे ज्ञानमव्ययम्!
गीता मे चोत्तमं स्थानं, गीता मे परमं पदम्!
गीता मे परमं गुह्यं, गीता मे परमो गुरुः!"

"हे पार्थ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा सर्वश्रेष्ठ सार है; गीता मेरा अति उग्र ज्ञान है, गीता मेरा अविनाशी ज्ञान है; गीता मेरा सर्वोत्तम स्थान है, गीता मेरा परम पद है; गीता मेरा अति गोपनीय परम रहस्य है, गीता मेरा भी परम गुरू है"!!!

— भगवान श्रीकृष्ण

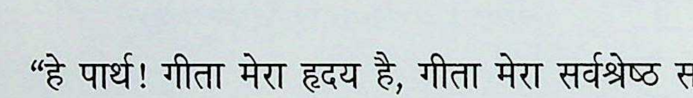

भगवान श्रीकृष्णजी के चरण कमलों में समर्पित!

भगवान श्री कृष्ण जी की असीम अलौकिक अनुकम्पा से मुझे 'श्रीमद्भगवद्गीता' के मूल संस्कृत भाष्य के सम्पूर्ण श्लोकों का यथारूप सरलतम हिंदी अनुवाद 'गीता मे परमो गुरुः' लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस अनुपम दिव्य ज्ञान को यथावत मूल भाव में रखने का यथासम्भव प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कई महापुरुषों द्वारा अनुवादित संस्करणों में से भी सहायता ली गयी है। उन सभी महानुभावों का मैं अंतःकरण की गहराईयों से आभार व्यक्त करता हूँ। सभी परिजनों, स्वजनों व मित्रों का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिनके सहयोग और प्रेरणा से यह ईश्वरीय कार्य संपन्न हुआ है।

फिर भी अनुवाद के इस पुनीत कार्य में भाषा, व्याकरण या अन्य कई तरह की अशुद्धियां रह गयी हों तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। विद्वान पाठकों के सृजनात्मक सुझाव व आलोचनाओं का सदैव स्वागत रहेगा। 'हरिदर्शन-दिवस' और 'परम गुरु प्रकट दिवस' अर्थात 'गीता जयन्ती' व एकादशी के इस शुभ अवसर पर आज 8 दिसंबर, 2019 रविवार के दिन 'गीता में परमो गुरुः' का अनुवाद 'श्री सत्य सनातन वैदिक हिन्दू धर्म' एवं अपनी 'धर्म-भूमि, कर्म-भूमि, मातृ-भूमि, पितृ-भूमि एवं पुण्य-भूमि, भारत माता' की सेवा हेतु भगवान श्री कृष्ण जी के चरण कमलों में समर्पित करता हूँ!

हरिओम्! जय श्री कृष्ण!

(डॉ. राजेश कुमार भाटिया)

गीता मेरी दृष्टि में ....

गीता का परम ज्ञान भगवान श्री कृष्ण जी ने योग में स्थित होकर अर्जुन को महाभारत के युद्ध में धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि पर आज से ठीक 5156 वर्ष पहले और कलयुग सम्वत आरम्भ होने से लगभग 35 वर्ष पूर्व उपदेश के रुप में दिया था। भगवान श्री कृष्ण जी के गीता ज्ञान रुपी ईश्वरीय उपदेश को सुनकर अर्जुन की सम्पूर्ण सुप्त शक्तियां जागृत हो गयीं और वह धर्म की रक्षा करने और अधर्म का नाश करने हेतु युद्ध करने के लिए खड़ा हो गया। भगवान श्री कृष्ण जी की कृपा से पांडवों का पक्ष युद्ध में विजयी रहा और धर्म की पुनः स्थापना करने में सफल रहा।

महर्षि वेद व्यास जी महाभारत ग्रन्थ के रचयिता व प्रणेता हैं। गीता उपदेश महाभारत के भीष्म पर्व का अंग है। महर्षि वेद व्यास ने हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र के मंत्री संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। संजय ने दिव्य दृष्टि से कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध देखा और फिर महाराज धृतराष्ट्र के कहने पर युद्ध का सारा वृतांत सुनाया।

गीता का दिव्य ज्ञान किसी विशेष धर्म, जाति, वर्ग या संप्रदाय के लिए नहीं है, बल्कि संसार के समूचे मानव समाज के कल्याण के लिए है। गीता का यह पवित्र सन्देश मानव मात्र के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से मुक्त होने की रामबाण औषधि भी है। श्री कृष्ण जी ने शरणागत आये व संशय में फंसे हुए अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी। उन्होंने शंकाग्रस्त और शोक से संतप्त अर्जुन को समझाया कि अपनी ओर से निष्काम कर्म करके उसे ईश्वर को समर्पित कर देना ही कर्मबन्धन से मुक्त होने का एकमात्र साधन है। भगवान श्री कृष्ण ने

अर्जुन को समझाया कि प्रत्येक कार्य अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए सोच-विचार कर ही करना चाहिए। "बुद्धि ही जीवन का आधार है जिससे आत्मविश्वास व आत्मज्ञान जन्म लेता है जो मनुष्य को उसके लक्ष्य तक पहुँचाता है। इससे मनुष्य श्रेष्ठतर बनकर व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व मानवीय समस्याओं का समाधान करता है।" बुद्धि का मुख्य लक्ष्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करके सही निर्णय लेना है। सदेव सत्य को ही ग्रहण करने वाली बुद्धि को ऋतम्भरा कहते हैं।

भगवान श्री कृष्ण जी को सोलह कला सम्पन्न अवतार माना जाता है, जैसे-शारीरिक बल, बौद्धिक बल, भावनात्मक बल, आध्यात्मिक बल, श्रद्धा, युद्ध कौशल, निर्भयता, प्रणय कला, प्रसन्नता, मैत्री भाव, सहिष्णुता, शीलता, गतिशीलता, निर्लोभता, व्यवहारिकता, कूटनीति इत्यादि।

गीता में योग और माया शब्द कई जगह आया है।

योग का अर्थ है - मिलन, एकता या समाधि।

माया का अर्थ है - असत्य, अविद्या, आश्चर्य, शक्ति, भौतिक-प्रकृति, भ्रम।

योगमाया का अर्थ है - योग से प्राप्त शक्ति। मोक्ष या मुक्ति प्राप्त कर चुकी महान आत्मायें अपनी इच्छानुसार जन्म लेकर लोक कल्याण करती हैं। इसी तरह पूर्ण योगी अपने प्राण त्यागने के स्थान और समय का निर्णय भी स्वयं करते हैं।

प्रकृति के तीनों गुणों और उनकी कार्यप्रणाली का ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान या उच्चतर ज्ञान। आत्मज्ञान की उच्चतम अवस्था जिसमें साधक को तीनों कालों का ज्ञान हो जाता है ही प्रज्ञान कहलाती है। ज्ञान से विश्वास उत्पन्न होता है और अज्ञान से अन्धविश्वास।

हमारा मानव शरीर ही कुरुक्षेत्र है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार नामक विकारों के साथ निरन्तर युद्धरत है। हमारा मन जड़ है, परन्तु

चेतन जीवात्मा से मिलकर सक्रिय हो जाता है और इन्द्रियों से सारे काम करवाता है।

गीता में दो प्रकार की विद्यायें कही गई हैं - अपरा विद्या से व्यक्ति अपनी आजीविका चलाता है; परा विद्या से अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। गीता में ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। अहंकार अर्थात् अहम्‌कार यानि "मैं कर्त्ता हूँ" का भाव ही मनुष्य का शत्रु है।

मनुष्य के लिए अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए ध्यान योग करना अति आवश्यक है। इसमें योगी पवित्र स्थान पर आसन लगाता है। शरीर को सीधा रखकर बैठ जाता है। मन और इन्द्रियों को वश में करता है। अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करता है; आँखें बन्द करके प्राणायाम करते हुए परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। गीता के अनुसार यज्ञ हवन मनुष्य का परम कर्त्तव्य है और यज्ञ के समाप्त होने पर शेष बचा हुआ भोजन करने से मनुष्य पाप-मुक्त हो जाता है।

गीता के अनुसार योगी मनुष्य सोता हुआ भी आत्मिक स्तर पर जागृत अवस्था में रहता है और साधारण व्यक्ति जागता हुआ भी आत्मिक स्तर पर सुप्त अवस्था में रहता है। कर्मयोगी कर्मफल का त्याग कर देता है और ज्ञान योगी कर्ता भाव का त्याग कर देता है। कर्मयोगी प्रायः बाह्यमुखी होते हैं, परन्तु ज्ञानयोगी, सांख्ययोगी और ध्यानयोगी अंतर्मुखी होते हैं। कर्मयोग से ही ज्ञानयोग, भक्तियोग और ध्यानयोग का मार्ग निकलता है। ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में कर्मयोग पहला, ज्ञानयोग दूसरा, भक्ति योग तीसरा व ध्यान योग अन्तिम चरण है।

उदाहरण के लिए कर्मयोग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में सहस्त्रों जन्म लग सकते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में सैंकड़ों जन्म लग सकते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में दस बीस जन्म लग सकते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और

ध्यानयोग के द्वारा इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। मगर कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और ध्यानयोग के साथ-साथ धर्मयुद्ध करने से अथवा अधर्म और अन्याय का विरोध करने से इसी जन्म में ही शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

शरीर तीन प्रकार का होता है -

1. **भौतिक शरीर** - जो पाँच भौतिक तत्त्वों से बना है।
2. **सूक्ष्म शरीर** - जो पाँच कर्मइंद्रियों, पाँच ज्ञान इन्द्रियों, पाँच ज्ञान इन्द्रियों के विषयों व मन, बुद्धि और अहंकार से बना है।
3. **कारण शरीर** - जो स्वभाव प्रकृति के तीन गुणों अर्थात सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण आदि से निर्मित है - और इसी में जीवात्मा निवास करता है। जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता है और कर्मानुसार सुख-दुख प्राप्त करता है।

जो सूक्ष्म साधन शरीर के अंदर कार्य करते हैं जैसे मन, बुद्धि और अहंकार - इन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा भौतिकता से चेतनता की ओर जाती है। जब मनुष्य की चेतना ईश्वरीय चेतना में मिल जाती है तो उसी को योग की स्थिति कहते हैं।

सतोगुणी मनुष्य में छब्बीस दिव्य गुण अपने आप धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं। गीता में सदाचार के बीस नियमों में विनम्रता को प्रथम व प्रमुख गुण बताया गया है। सत्वगुण प्रकाश का प्रतीक है और यह मनुष्य को धर्म, ज्ञान, सत्य और न्याय के मार्ग पर ले जाता है।

रजोगुणी मनुष्य में राग और द्वेष अंदर वास करते हैं जो बाहर काम और क्रोध के रूप में प्रकट होते हैं। रजोगुण काम का प्रतीक है और यह मनुष्य को आसक्त, भोगी, लोभी और महत्वाकांक्षी बनाता है।

तमोगुणी मनुष्य में रजोगुण के दोषों की ही बहुतायत या अधिकतम मात्रा हो जाती है जैसे-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, छल-कपट,

क्रूरता, कठोरता, अज्ञान आदि। तमो गुण अन्धकार का प्रतीक है और यह मनुष्य को अधर्म, अज्ञान, असत्य और आलस्य के मार्ग पर ले जाता है।

परमात्मा हमारी जीवात्मा का द्रष्टा व सहायक है - सदैव अच्छे कर्म करने की प्रेरणा देता है, परन्तु फिर भी अगर हम स्वतंत्रता का दुरूपयोग करके बुरे कर्म करते हैं तो हमको उत्तरदायी भी ठहराता है। गीता में प्रत्येक मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र माना गया है, लेकिन फल भोगने में मनुष्य परतंत्र है। ईश्वर को सत्य, चित्त, आनन्द और अपरिवर्तनशील कहा गया है एवं प्रकृति को जड़ एवं परिवर्तनशील कहा जाता है। ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है अतः इसे केवल अन्तःकरण से ही जाना जा सकता है न कि विज्ञान से। इसीलिए इस विद्या को राजविद्या या गोपनीय विद्या भी कहते हैं।

गीता में मूल प्रकृति को सभी प्राणियों को जन्म देने वाली महद योनि कहा गया है। प्रकृति को गर्भ धारण करने वाली माता और ईश्वर को बीजारोपण करने वाला पिता कहा गया है। कामवासना जीव उत्पत्ति की एक प्रबल शक्ति है और प्रेम इसका उच्चतम स्तर है। प्रेम का ही निम्नस्तर कामवासना है।

श्रद्धा एक गहरा विश्वास है जो मनुष्य को परमात्मा के समीप लाता है। ॐ, तत, सत, ब्रह्म के नाम हैं अर्थात इनके जप से एकाग्रता बढ़ती है। वास्तव में शुभ कार्य या परोपकार का कार्य अपने आप में ही यज्ञ हवन है।

भगवान श्री कृष्ण जी को आप्त पुरुष भी कहा जाता है अर्थात उनके शब्दों को अकाट्य प्रमाण माना जाता है। वास्तव में श्री कृष्ण जी ने एक शांतिदूत के रूप में युद्ध टालने के सारे प्रयास किये थे; लेकिन वह धर्म और सत्य को छोड़कर युद्ध से भागना अधर्म मानते थे। श्री कृष्ण जी की प्रेरणा से अर्जुन पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए भगवान शिवजी के पास मानसरोवर जाता है और संगीत सीखने के लिए गन्धर्व लोक जाता है। श्री कृष्ण जी भविष्य द्रष्टा हैं, उनको पता है कि उनके अनन्य भक्त को किस समय क्या

आवश्यकता पड़ेगी और उसका प्रबंध कब और कैसे करना है। भगवान श्रीकृष्ण जी ने कलयुग की पूर्व संध्या पर पृथ्वी से प्रस्थान करने से पहले अपने प्रिय बंधु उद्धव को प्रभु प्राप्ति के लिए सरल मार्ग बताया कि सदैव निस्वार्थ कर्त्तव्य-कर्म करो; मनसा वाचा कर्मणा कभी किसी प्राणी को कष्ट मत दो; और अपनी सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके प्रति क्षण आपने अन्दर और बाहर भगवान के दर्शन करो।

श्री कृष्ण जी के अनुसार मनुष्य को सदैव अपने स्वभाव के अनुसार ही अपने धर्म, कर्त्तव्य-कर्म या व्यवसाय को चुनना चाहिए। अगर आप किसी दूसरे के प्रभाव में आकर निर्णय लेते हैं तो आप जीवन भर असन्तुष्ट रहकर अपनी मानसिक शान्ति को भी खो देते हैं। जीवन में अनिर्णय, दुविधा या संशय ही विनाश का कारण बनता है।

"गीता मे परमो गुरुः" का नियमित स्वाध्याय, श्रवण, मनन व पाठ प्रत्येक मनुष्य के कर्मों, भावों और विचारों को सही दिशा में ले जाने का अचूक उपाय है। अगर आप इस पवित्र ग्रन्थ को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं तो यह निश्चित रूप से आपकी समस्त समस्याओं का समाधान कर देगा, ऐसा मेरा अटल विश्वास है।

- डॉ. राजेश कुमार भाटिया

हमारा लक्ष्य व उद्देश्य

श्रीमद्भगवद्गीता के मूल संस्कृत रूप का हिंदी, पंजाबी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं में सरलतम अनुवाद करना और विश्व भर में गीता के अलौकिक व दिव्य सन्देश को हमें जनसाधारण तक पहुँचाना है। विश्व भर में मानव मात्र के कल्याण के लिए "हरिओम" संस्थान (HARIOM: Human Awakening, Religious Integeration, One Mankind) की धार्मिक शाखाएं स्थापित करना। गीता ज्ञान का प्रचार-प्रसार व साप्ताहिक सत्संग करना। प्रत्येक मंगलवार या रविवार को स्थानीय मंदिरों में हरिओम् संस्थान के सदस्यों द्वारा सभा का आयोजन करके धर्म और राष्ट्र को सशक्त बनाने के विषयों पर चर्चा करना और अगली योजना बनाना। इसी विचार धारा की अन्य धार्मिक व राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना। युवाओं और छात्रों का मार्ग दर्शन करना। 'गीता मे परमो गुरुः' व अन्य सनातन वैदिक धर्म ग्रंथों के माध्यम से विभिन्न धर्मों, वर्णों, जातियों व वर्गों में एकता स्थापित करना। सनातन वैदिक हिन्दू धर्म के विश्व के सभी मंदिरों व संस्थानों को एक ही सर्वोच्च व सर्वोपरि संस्था के अन्तर्गत लाना। विश्व के कल्याण के लिए विश्व बंधुत्व की भावना का प्रचार प्रसार करना। सनातन धर्म की सारी मातृ शक्ति को घर-घर में अर्जुन, अभिमन्यु, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोबिन्द सिंह जी और बन्दा बहादुर जैसे संस्कारित वीर पुरूष और शक्तिशाली धर्म रक्षक पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करना। परन्तु यह तभी संभव होगा जब सनातन वैदिक हिन्दू धर्म का प्रत्येक अनुयायी यह दृढ़ आस्था रखेगा कि भगवान श्री कृष्ण जी ने ही धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में साक्षात् परमेश्वर भगवान विष्णु का विराट विश्वरूप धारण किया था। केवल 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही एकमात्र अलौकिक ईश्वरीय वाणी का ग्रन्थ है। 'गीता मे परमो गुरुः' अर्थात गीता ही मेरा परमगुरु है और मेरा कोई भी अन्य भौतिक शरीर वाला सांसारिक गुरु नहीं है। सदैव इस दिव्य सन्देश को याद रखना और घर-घर तक पहुँचाना। हमारा लक्ष्य है कि 'हरिओम' परिवार का प्रत्येक

सदस्य अपने साथ 10 नए सदस्य जोड़े और इस तरह भगवान श्रीकृष्ण जी की कृपा से हम लोग 'एक और एक ग्यारह' होते चले जाएँ। सम्पूर्ण मानव जाति को सम्मानपूर्वक सनातन धर्म में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना। सनातन धर्म के सब लोगों को आत्मसुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा व राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सतत तैयार रहने के लिए प्रेरित करना।

परन्तु मस्तिष्क में एक ज्वलंत प्रश्न अवश्य उठता है ??? अगर गीता ज्ञान इतना ही प्रबल और मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तिवर्धक है तो पिछले 2500 साल से भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों के निरंतर आक्रमण क्यों होते चले आ रहे हैं और हम लगातार देश और धर्म की रक्षा करने में क्यों असमर्थ और असहाय हैं? इसका एकमात्र कारण है कि हम भगवान श्रीकृष्ण जी के परम गुरु गीता के दिव्य एवं विश्वसनीय ज्ञान को भूलकर सांसारिक गुरूओं के चक्कर में पड़कर भ्रमित और पथभ्रष्ट हो चुके हैं। क्या हमारे देश में अब हमारी मातृशक्ति और पितृशक्ति ने अर्जुन और अभिमन्यु जैसे संस्कारित शूरवीर पैदा करने ही बंद कर दिए हैं? वास्तव में हमने स्वयं गीता के ईश्वरीय ज्ञान को भूलकर ही अपने धर्म और देश की यह दशा कर ली है। अगर आप देश और धर्म के भविष्य के बारे में किंचित मात्र भी चिंतित हैं तो आइये आज से ही, अभी इसी क्षण माँ, मातृभूमि और महादेव की सौंगंध खाकर यह संकल्प लेते हैं कि 'गीता मे परमो गुरुः' के इस दिव्य संदेश को सरलतम लोक भाषा में जनसाधारण तक पहुँचायेगे; हम सभी देश और धर्म की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प करें और अपनी भविष्य की पीढ़ियों को राक्षसों के हाथों नष्ट होने से बचाएं; अन्यथा भगवान श्री कृष्ण जी का साक्षात अवतरण और उनका गीता ज्ञान भी हमारे जैसे स्वार्थी, लालची व देशद्रोही लोगों के अस्तित्व को नहीं बचा पायेगा। गीता को परम गुरु मानते हुए हमें धर्मरक्षा, राष्ट्र-रक्षा और आत्म-रक्षा के लिए घर-घर में अर्जुन और अभिमन्यु जैसे योद्धा पैदा करने होंगे। तभी भगवान श्रीकृष्ण जी का 'गीता में परमो गुरुः' का यह अलौकिक उद्घोष सार्थक होगा।

गीता-पाठ/गीता-यज्ञ हवन मंत्र

1. महामंत्र

ॐ - 3

हरिओम् - 3

ॐ श्री परमात्मने नमः ! - 3

ॐ भगवान श्री ब्रह्मा, श्री विष्णु, श्री शिवाय नमः !

ॐ माँ सरस्वती, माँ लक्ष्मी, माँ दुर्गायेश्च नमः !

ॐ भगवान श्री गणेशाय नमः !

ॐ श्री सत्य सनातन विराट वैदिक हिन्दू धर्म ग्रन्थ 'गीता मे परमो गुरुः' नमः !

ॐ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामाय नमः !

ॐ योगीराज भगवान श्री कृष्णाय नमः !

ॐ भगवान श्री हनुमते नमः !

ॐ भगवान श्री कार्तिकेय स्कन्दाये नमः !

ॐ भगवान श्री महावीर स्वामी महात्मा बुद्धायैश्च नमः !

ॐ सर्व गुरवे सर्व देवाय सर्व पितरायेश्च नमः !

ॐ श्री सूर्यदेव, श्री चंद्रदेव, सर्व प्रकृति, भारत मात्रेश्च नमः !

2. गायत्री मंत्र :

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

भावार्थ :-

ईश्वर सत्य, चित्त और आनन्द है। हम प्राणों से प्रिय, सुखस्वरूप, दुःख विनाशक, उस जगत के स्रष्टा, सबके प्रेरक एवं दिव्यरूप, सर्वश्रेष्ठ, तेजस्वी

परम पिता परमात्मा के उस सर्वोत्तम स्वरुप का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को सत्कर्मों में प्रेरित करता है।

3. महामृत्युंजय मन्त्र/संजीवनी मन्त्र -

ॐ त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।।

भावार्थ :-

मैं तीन नेत्र वाले भगवान शिव शंकर का ध्यान करता हूँ जिनका यश सुगन्धी की तरह तीनों लोकों में फैला हुआ है और जो विश्व के सभी ऐश्वर्यों के वर्धक हैं; अपने मूल से पृथक हुए पके हुए फल की तरह मुझे मृत्युलोक से मुक्त कर सायुज्य मोक्ष प्रदान करें।

4. गुरू मन्त्र :-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् परब्रह्म,
तस्मै श्री गुरवे नमः।

भावार्थ :-

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु शिव है; गुरु ही साक्षात परब्रह्म है, उसी सदगुरु को मेरा प्रणाम है।

5. परमगुरू मंत्र :-

"गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे सारमुत्तमम!
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं, गीता मे ज्ञानमव्ययम्!
गीता मे चोत्तमं स्थानं, गीता मे परमं पदम्!
गीता मे परमं गुह्यं, गीता मे परमो गुरुः!"

भावार्थ :-

"हे पार्थ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा सर्वश्रेष्ठ सार है; गीता मेरा अति उग्र ज्ञान है, गीता मेरा अविनाशी ज्ञान है; गीता मेरा सर्वोत्तम स्थान है, गीता मेरा परम पद है; गीता मेरा अति गोपनीय परम रहस्य है, गीता मेरा भी परम गुरू है"!!!

अध्याय 1

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में सैन्य निरीक्षण और अर्जुन विषाद

धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में पाण्डवों और कौरवों की सेनायें महाभारत के युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं। कौरवों के पिता और हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे हैं, परन्तु युद्ध का हाल जानने के लिए बहुत उत्सुक हैं। उनके छोटे भाई और मंत्री संजय को गुरु वेदव्यास जी की कृपा से दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है और वह महाराज धृतराष्ट्र को महाभारत के युद्ध का आँखों देखा हाल सुनाता है। महाभारत के इस युद्ध में पांडवों का प्रमुख योद्धा अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों को शत्रु सेना में देखकर मोहग्रस्त और व्याकुल हो उठता है। अर्जुन कहता है कि इस युद्ध में वह अपने सम्बन्धिओं को मारकर कोई कल्याण नहीं देख पा रहा है। उसके सम्बन्धी उस पर अगर प्रहार भी करें तो भी वह उनको मारना नहीं चाहता। "इनको मारकर अगर मुझे तीनों लोकों का राज्य भी मिल जाये तो भी मैं इनको नहीं मारना चाहूँगा; इन आततार्इयों को मारने से तो हमें पाप ही लगेगा" - यह कहकर अर्जुन ने अपना धनुषबाण एक तरफ रख दिया तथा युद्ध करने से मना कर दिया।

1. **हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र ने अपने मंत्री से कहा** - हे संजय! धर्म-भूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

2. **संजय बोले** – हे राजन! पांडव सेना की व्यूहरचना को देखकर राजा दुर्योधन अपने आचार्य द्रोणाचार्य के पास गया और जाकर यह वचन बोला।

3. **दुर्योधन बोला** - हे आचार्य! पाण्डु पुत्रों की इस विशाल सेना को देखिये, जिसकी व्यूहरचना आपके अत्यंत बुद्धिमान शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न ने बड़ी कुशलता से की है।

4. यहाँ पांडव सेना में भीम तथा अर्जुन के समान युद्ध करने वाले बहुत बड़े-बड़े शूरवीर और धनुर्धर हैं जैसे महारथी युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महान योद्धा द्रुपद।

5. इनके साथ-साथ धृष्टकेतु और चेकितान तथा अत्यंत बलशाली काशिराज भी हैं। इनमें पुरुजित, कुन्तिभोज और शैव्य जैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ योद्धा भी हैं।

6. पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र - यह सब के सब ही महारथी हैं।

7. हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! आपकी जानकारी के लिए हमारी सेना में भी जो विशेष शक्तिशाली सेना नायक हैं, उनके बारे में भी मैं आपको बता रहा हूँ।

8. हमारी सेना में स्वयं आप (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण तथा कृपाचार्य जैसे महान योद्धा हैं जो सदा ही संग्राम विजयी रहे हैं। वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा है।

9. इनके अतिरिक्त भी बहुत से शूरवीर हैं जो मेरे लिए अपने जीवन का त्याग करने के लिए तत्पर हैं। यह सब के सब अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने में और युद्ध विद्या में अत्यंत निपुण हैं।

10. परन्तु हमारी सेना जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म पितामह कर हैं – पांडवों पर विजय पाने के लिए अपर्याप्त है, लेकिन पांडवों की सेना की शक्ति जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं हम पर विजय पाने के लिए पर्याप्त है।

11. अब दुर्योधन अपनी सेना के सभी महारथियों से बोला कि आप सब दृढ़ता से अपने-अपने मोर्चों को सँभालते हुए भीष्म पितामह को चारों ओर से रक्षा सहयोग प्रदान करें।

12. तभी कौरवों में वयोवृद्ध एवं परम प्रतापी भीष्म पितामह ने दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए सिंह की गर्जना के समान उच्च स्वर में शंख बजाया।

13. उसके बाद शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और नरसिंघे, बिगुल, तुरही, सींग, बाजे अचानक सब एक साथ ही बज उठे। वह स्वर बड़ा ही भयंकर और कोलाहल पूर्ण था।

14. उसके बाद सफ़ेद घोड़ों से जुते हुए विशाल रथ पर आसीन माधव अर्थात भगवान श्री कृष्ण तथा अर्जुन ने भी अपने-अपने अलौकिक अर्थात दिव्य शंखों को बड़े जोर से बजाया।

15. हृषिकेश अर्थात दिव्य इन्द्रियों के स्वामी अंतर्यामी भगवान श्री कृष्ण जी ने पांचजन्य नामक तथा धनंजय अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया और भयानक कर्म करने वाले वृकोदर अर्थात अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

16. हे राजन! कुंती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनंत विजय नामक शंख बजाया तथा नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया।

17. महान धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट एवं अजय सात्यकि ने अपने-अपने शंख बजाए।

18. राजा द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों तथा सुभद्रा-पुत्र महाबाहु अभिमन्यु ने भी अलग-अलग ओर से अपने-अपने शंख बजाए।

19. पांडवों के शंखों की उस भयंकर ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया।

20. हे राजन! अब युद्धक्षेत्र में शस्त्र चलाने के लिए तैयार कौरवों को व्यूह में खड़ा देख कर, हनुमान ध्वजा वाले रथ पर आसीन अर्जुन ने अपना धनुष उठाया और अंतर्यामी भगवान श्री कृष्ण जी से यह वचन कहे।

21. **अर्जुन ने कहा** – हे अच्युत! (जो कभी नहीं चूकते)! आप कृपा करके मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले जाकर खड़ा कर दीजिए।

22. जिससे मैं यहाँ युद्ध करने की इच्छा से एकत्र हुए महारथिओं को देख सकूँ कि इस रणभूमि में मुझे किन-किन योद्धाओं के साथ युद्ध करना है।

23. मैं उन लोगों को भी देख लूँ जो यहाँ पर धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि अर्थात दुष्टबुद्धि पुत्र दुर्योधन को प्रसन्न करने हेतु उतावले होकर युद्ध करने के लिए आये हुए हैं।

24. संजय बोले - हे भरत वंशी राजन! गुडाकेश अर्जुन के इस प्रकार कहने पर इन्द्रिओं के स्वामी हृषिकेश भगवान श्री कृष्ण जी ने दोनों सेनाओं के मध्य में उस उत्तम रथ को लाकर खड़ा कर दिया।

25. पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और विश्व भर के सम्पूर्ण राजाओं के सामने भगवान ने अर्जुन को कहा कि हे पार्थ! यहाँ पर एकत्र हुए इन सब कुरुवंशिओं को देखो।

26. उसके पश्चात् पृथा-पुत्र अर्जुन ने दोनों सेनाओं में अपने पिताओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाईयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और शुभ चिंतकों को भी देखा।

27. कुंती-पुत्र अर्जुन अपने उन सब बंधुओं को देख कर करुणा से अभिभूत हो गया और विषाद करते हुए अर्थात दुःख व्यक्त करते हुए इस प्रकार बोला।

28. हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा रखने वाले इन सारे सम्बन्धिओं को अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे शरीर के सारे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है।

29. मेरे शरीर में कंपकंपी आ रही है और मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं। मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष भी छूट रहा है और मेरी त्वचा भी जल रही है।

30. हे केशव! मैं अब यहाँ और अधिक देर तक खड़े रहने में असमर्थ हो रहा हूँ और मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है।

31. हे केशव! मैं तो सभी लक्षण भी विपरीत ही देख रहा हूँ और इस युद्ध में अपने सम्बन्धियों को मारकर कोई कल्याण भी नहीं देख पा रहा हूँ।

32. हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य और न ही सुखों को चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमें इस तरह से प्राप्त राज्य से, भोगों से अथवा जीने से भी क्या लाभ है?

33. जिन सम्बन्धियों के लिए हमें राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, वो सब ही अपने प्राणों की एवं धन की आशा त्याग कर हमसे युद्ध करने के लिए खड़े हैं।

34. अगर यह सारे आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य सगे सम्बन्धी मुझ पर प्रहार भी करें तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता।

35. हे मधुसूदन! इनको मारकर अगर मुझे तीनों लोकों का राज्य भी मिल जाये तो भी मैं इनको नहीं मारना चाहूँगा; फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है?

36. हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततार्इयों को मारने से तो हमें पाप ही लगेगा।

37. इसलिए धृतराष्ट्र के पुत्रों व अपने इन बंधुओं को मारना हमारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि हे माधव! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं?

38. यद्यपि लोभ के कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसे लोग कुल का नाश और मित्र-द्रोह में भी कोई पाप नहीं देखते।

39. किन्तु हे जनार्दन! हम लोग जो परिवार के नष्ट होने में दोष देख सकते हैं, ऐसा पाप करने में क्यों प्रवृत्त हों?

40. कुल का नाश होने पर सदा से चले आ रहे कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर सारे कुल में अधर्म का बोलबाला हो जाता है।

41. हे कृष्ण! अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती

हैं। हे वृष्णिवंशी! स्त्रीत्व के पतन से अवांछित संतानें पैदा हो जाती हैं।

42. अवांछित संतानें अर्थात वर्णसंकर फिर कुल को और कुलघातियों को नरक में ले जाते हैं। श्राद्ध, पिंडदान और तर्पण न मिलने से इन कुलघातियों के पुरखे भी अपने स्थान से नीचे अर्थात नरक में गिर जाते हैं।

43. इन वर्णसंकर पैदा करने वाले दोषों से शाश्वत कुलधर्म और वर्णधर्म अर्थात जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

44. हे जनार्दन! हमने सुना है कि जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्यों का बहुत समय तक नरकों में वास होता है।

45. यह बड़े ही आश्चर्य और दुःख की बात है कि हमने बहुत बड़ा पाप करने का निश्चय कर लिया है और राज्य व सुख के लोभ के कारण अपने ही सम्बन्धियों को मारने के लिए तैयार हो गए हैं।

46. अगर धृतराष्ट्र के यह शस्त्रधारी पुत्र युद्धभूमि में मुझे प्रतिरोध न करने पर निहत्था ही मार दें तो भी वह मेरे लिए अधिक श्रेयस्कर होगा।

47. **संजय बोले** – युद्धभूमि में ऐसा कहकर शोकाकुल मन से अर्जुन ने अपना धनुषबाण एक ओर रख दिया और रथ के बीच में आसन पर बैठ गया।

अध्याय 2
सांख्ययोग अथवा गीता का सार

मोह और भ्रम की इस विषम स्थिति में अर्जुन भगवान का शरणागत शिष्य होना स्वीकार कर लेता है और मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना करता है। भगवान श्री कृष्ण उसे निष्काम और अनासक्त होकर स्वधर्म निभाने का परामर्श देते हैं और कहते हैं कि तुम इस हीन नपुंसकता को त्याग दो क्योंकि यह तुम्हें शोभा नहीं देता। जो बुद्धिमान व्यक्ति सुख और दुख में विचलित नहीं होता और समभाव रहता है, वह निश्चय ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यह जीवात्मा अजन्मा, नित्य-निरंतर, शाश्वत, अनादि व अमर है और उसका वध नहीं किया जा सकता; इसलिए तुम्हें किसी भी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए। तुम्हें अपने स्वधर्म और कर्त्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए; क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध के अतिरिक्त कोई और दूसरा श्रेष्ठ कर्म नहीं है। चूँकि क्षत्रियों का कर्त्तव्य-कर्म धर्म-युद्ध करना ही है, अतः सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय की चिंता छोड़ कर भगवान उसे धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाने की प्रेरणा देते हैं। वे आश्वासन देते हैं कि ऐसा करने पर अर्जुन को किसी प्रकार का पाप नहीं लगेगा। वे बताते हैं कि केवल कर्त्तव्य-कर्म करने में ही अर्जुन का अधिकार है, किन्तु कर्मफल का वह अधिकारी नहीं है।

1. **संजय बोले** - इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसुओं से भरे, शोकयुक्त, व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहे।

2. **श्री भगवान बोले** - हे अर्जुन! इतने विषम अवसर पर तुम्हारे में यह कायरता कहाँ से आ गई? यह श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण के विपरीत है। इससे न तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और न ही कीर्ति की।

3. **हे पृथापुत्र अर्जुन**! इस हीन नपुंसकता को प्राप्त मत हो, क्योंकि यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे शत्रुओं के दमनकर्त्ता! हृदय की इस क्षुद्र अर्थात तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ!

4. **अर्जुन ने कहा** - हे मधुसूदन! मैं युद्धभूमि में भीष्म और द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूँगा? हे अरिसूदन! यह दोनों ही पूजा के योग्य हैं।

5. इन महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा इस लोक में भिक्षा मांग कर खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ, क्योंकि गुरुजनों को मारकर उनके रक्त से सने हुए धन और कामयुक्त भोगों को ही तो भोगूँगा।

6. हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना श्रेष्ठ है या नहीं अथवा हम जीतेंगे या वो जीतेंगे; धृतराष्ट्र के वही पुत्र हमारे सामने खड़े हैं, जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते।

7. अब मैं अपनी दुर्बलता और कायरता के कारण अपना धर्म और कर्त्तव्य भूल गया हूँ। ऐसी अवस्था में मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चय ही कल्याणकारी हो, उसे आप कहें। मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण आया हूँ। कृपया मुझे शिक्षा दें।

8. अगर मुझे पृथ्वी पर धन-धान्य से समृद्ध और शत्रुविहीन राज्य तथा स्वर्ग में देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाये तो भी मैं इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर नहीं कर पाऊंगा।

9. **संजय बोले** - हे राजन! निद्रा को जीतने वाला और शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन अंतर्यामी भगवान श्री कृष्ण से 'मैं ये युद्ध नहीं करूँगा' कह कर चुप हो गया।

10. **हे भरतवंशी धृतराष्ट्र**! दोनों सेनाओं के मध्य में शोकमगन अर्जुन को तब भगवान श्री कृष्ण ने हँसते हुए यह वचन कहे।

11. **भगवान श्री कृष्ण ने कहा** - हे अर्जुन! तुम बुद्धिमानों की तरह बात करते हो, परन्तु जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए उनके लिए शोक कर रहे हो। ज्ञानी लोग जीवित या मृत किसी के लिए भी शोक नहीं करते।

12. किसी काल में ऐसा नहीं था कि मैं नहीं था, तुम नहीं थे या यह राजा लोग नहीं थे; और न ही ऐसा भविष्य में कभी होगा कि हम सब लोग नहीं रहेंगे।

13. मनुष्य के शरीर में जैसे बालकपन, जवानी और बुढ़ापा होता है, वैसे ही जीवात्मा को मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जाती है। बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से नहीं घबराते।

14. **हे कुंती-पुत्र**! इन्द्रियों के विषय तो सर्दी-गर्मी की तरह सुख और दुख देने वाले होते हैं। यह क्षणिक और आने-जाने वाले हैं। हे भारत! तुम इनको सहना सीखो।

15. **हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन**! जो बुद्धिमान व्यक्ति सुख और दुख में विचलित नहीं होता और समभाव रहता है, वह निश्चित रूप से

मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

16. असत अर्थात भौतिक शरीर का अस्तित्त्व तो अस्थाई है, किन्तु सत अर्थात आत्मा का अस्तित्त्व स्थाई है यानि कि आत्मा शाश्वत, अविनाशी, सर्वकालिक व अपरिवर्तित रहता है। तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने इन दोनों का ही अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है।

17. जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, उसे ही तू अविनाशी जान और इस अविनाशी आत्मा का विनाश कोई भी नहीं कर सकता।

18. अविनाशी, असीम और नित्य-स्वरुप जीवात्मा के सब भौतिक शरीर नाशवान कहे गए हैं अर्थात इनका अंत अवश्यम्भावी है, इसलिए हे अर्जुन तुम युद्ध करो।

19. जो मनुष्य इस अविनाशी जीवात्मा को मारने वाला या मरने वाला मानता है, वह दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि जीवात्मा न किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जा सकता है।

20. यह जीवात्मा न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। यह न तो उत्पन्न होता है और न ही समाप्त होता है। यह अजन्मा, नित्य-निरंतर, शाश्वत और पुरातन अर्थात अनादि है। शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता।

21. हे पार्थ! जो मनुष्य इस जीवात्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा तथा अव्यय जानता है, वह भला कैसे किसी को मारेगा या कैसे किसी को मरवायेगा?

22. जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नए वस्त्र धारण कर लेता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने बेकार शरीर को छोड़ कर दूसरे नए

शरीर में चला जाता है।

23. शस्त्र इस जीवात्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको भिगो नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती।

24. यह जीवात्मा अखंड और अघुलनशील है। यह जलाया नहीं जा सकता और न ही शुष्क किया जा सकता है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा शाश्वत है।

25. यह आत्मा अदृश्य, अकल्पनीय और निर्विकार कहा जाता है। अतः इस जीवात्मा को ऐसा जानकर तुम्हें शरीर के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

26. **हे महाबाहो**! अगर शरीर में रहने वाले जीवात्मा को तुम नित्य पैदा होने वाला या नित्य मरने वाला भी मानो, तो भी तुम्हें इस प्रकार से शोक नहीं करना चाहिए।

27. क्योंकि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्य निश्चित है और मरने वाले का पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः जो अटल है और जिससे बचा नहीं जा सकता, उसका तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

28. **हे भारत**! जन्म से पहले सभी प्राणी अदृश्य थे और मरने के बाद फिर अप्रकट हो जायेंगे। वे केवल जन्म और मृत्यु के बीच में ही प्रकट होते हैं, अतः इसमें शोक करने की क्या आवश्यकता है?

29. कोई इस जीवात्मा को आश्चर्य से देखता है और वैसे ही कोई दूसरा आश्चर्य से इसका वर्णन करता है तथा अन्य कोई आश्चर्य से इसे सुनता है और कोई तो इसके बारे में सुनकर भी कुछ नहीं जान पाता।

30. हे भारत! सबके शरीर में वास करने वाला जीवात्मा नित्य है और उसका वध नहीं किया जा सकता; अतः तुम्हें किसी भी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

31. अपने स्वधर्म की दृष्टि से भी तुम्हें अपने कर्त्तव्य-कर्म से विचलित नहीं होना चाहिए; क्योंकि धर्ममय युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है।

32. **हे पार्थ**! क्षत्रिय के लिए अपने आप प्राप्त हुआ धर्मयुद्ध स्वर्ग के खुले द्वार की तरह है। ऐसा युद्ध बड़े सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है।

33. किन्तु अगर तू यह धर्मयुद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और यश को खो कर पाप को प्राप्त होगा।

34. फिर सब लोग सदैव तुम्हारी अपकीर्ति का वर्णन करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश मृत्यु से भी बढ़कर दुखदाई होता है।

35. महारथी लोग तुम्हें भय के कारण युद्ध से डर कर भागा हुआ मानेंगे और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो, उनकी दृष्टि में तुम बहुत तुच्छ हो जाओगे।

36. सारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निंदा करते हुए बहुत से न कहने योग्य कटु वचन भी कहेंगे। तुम्हारे लिए उस से बढ़कर और दुख की बात क्या होगी?

37. अगर युद्ध में तुम मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी और अगर जीत जाओगे तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे; इसलिए हे कुंती-पुत्र! तुम युद्ध के लिए दृढ़ संकल्प करके खड़े हो जाओ।

38. तुम सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान मानकर युद्ध में लग जाओ। ऐसा करने पर तुम्हें किसी प्रकार का पाप नहीं लगेगा।

39. हे पार्थ! यह ज्ञान मैंने तुझे सांख्य योग अर्थात विश्लेषण युक्त बुद्धि की दृष्टि से कहा है और अब इसको तुम निष्काम कर्मयोग की दृष्टि से सुनो, जिस से तुम कर्मबंधन से मुक्त हो जाओगे।

40. निष्काम कर्मयोग के इस प्रयास में न तो कुछ नष्ट होता है और न ही कोई हानि होती है; अपितु इस पथ पर करने योग्य कर्म का थोड़ा सा अभ्यास भी जन्म-मरण के महान भय से रक्षा कर लेता है।

41. हे कुरुनन्दन! दृढ़ निश्चय वाली स्थिर बुद्धि एक ही होती है अर्थात उसका लक्ष्य भी एक ही होता है। जो दृढ़ प्रतिज्ञ नही हैं अर्थात जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्यों की बुद्धियाँ असंख्य होती हैं और बहुत सी शाखाओं में बँट जाती हैं।

42. हे पार्थ! वे अविवेकी मनुष्य जो वेदों को यथार्थ रूप से नहीं समझते और केवल सकाम कर्मों में प्रीति रखते हैं; दिखावे वाली पुष्पित और शोभायुक्त भाषा बोलते हैं और ऐसा मानते हैं कि संसार में भोगों के सिवाए कुछ भी नहीं है।

43. वे अज्ञानी जन कामनाओं में तन्मय होकर, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत से विशेष सकाम कर्मों का वर्णन करते हैं जिनका कर्मफल पुर्नजन्म ही होता है।

44. जो अल्पज्ञ मनुष्य भोग तथा ऐश्वर्य में अत्यंत आसक्त हो गए हैं और जिनका चित्त मोहग्रस्त हो गया है या हर लिया गया है, उन मनुष्यों का परमात्मा की भक्ति में दृढ़ निश्चय नहीं होता।

45. **हे अर्जुन**! वेदों में जिन तीन गुणों का वर्णन हुआ है अर्थात सत्व, रजस और तमस गुण; तुम इन तीन गुणों से ऊपर उठ जाओ; राग-द्वेष आदि द्वंद्वों से रहित हो जाओ; नित्य-निरंतर सत्व परमात्मा में स्थित हो जाओ; योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) की भी चाह मत रखो और अपनी अंतरात्मा में स्थित हो जाओ।

46. जिस प्रकार सर्वथा परिपूर्ण महान जलाशय प्राप्त होने पर छोटे-छोटे जलकूपों का प्रयोजन भी पूरा हो जाता है, उसी प्रकार परब्रह्म के तत्त्व को जानने वाले ब्रह्मज्ञानी का वेदों और शास्त्रों को जानने का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है।

47. कर्त्तव्य-कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, किन्तु कर्मफल के तुम अधिकारी नहीं हो। न तो तुम अपने आप को कर्मफल का कारण मानो और न ही अकर्म करने में स्वयं को प्रवृत करो।

48. **हे धनंजय**! योग में स्थित होकर, आसक्ति का त्याग करके, सफलता और असफलता में सम होकर तुम अपने कर्त्तव्य कर्मों को करो, क्योंकि हर स्थिति में मन का अटल और समभाव में रहना ही योग कहलाता है।

49. **हे धनंजय!** बुद्धियोग की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यंत निकृष्ट हैं अर्थात दूर से ही त्याज्य हैं; अतः तुम बुद्धियोग की शरण लो क्योंकि फल की इच्छा रखकर कर्म करने वाले लोग तो अत्यंत

कृपण हैं अर्थात बहुत दीन हैं।

50. बुद्धिमान मनुष्य इस जीवन में ही अच्छे और बुरे दोनों कर्मों का त्याग कर देता है; अतः तुम समभाव योग में स्थित होकर कर्म में लग जाओ क्योंकि योग में स्थित रहकर कर्म करना ही सारा कार्य कौशल है।

51. इस प्रकार बड़े-बड़े बुद्धिमान ऋषि-मुनि सकाम कर्मों के फल का त्याग करके जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं और निर्विकार अवस्था में पहुँच कर परम पद को प्राप्त करते हैं।

52. जब तुम्हारी बुद्धि मोह, माया और भ्रम रुपी इस घने जंगल की दलदल को भली-भांति पार कर जाएगी, उस समय तुम्हें इस लोक में सुने हुए या परलोक में सुनने में आने वाले विषयों अर्थात भोगों से भी वैराग्य जायेगा।

53. जब वेदशास्त्र धर्मग्रन्थों के बहुअर्थी मतभेदों से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि एकनिष्ठ होकर निश्चल हो जाएगी और समाधि में अचल होकर परमात्मा में स्थिर हो जाएगी, तब तुम्हें योग प्राप्त होगा।

54. **अर्जुन ने कहा** - हे केशव! परमात्मा की समाधि में लीन स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं? स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य कैसे व्यवहार करता है अर्थात कैसी भाषा में बात करता है? कैसे उठता-बैठता है और कैसे चलता-फिरता है?

55. **श्री भगवान ने कहा** - हे पार्थ! जब मनुष्य मन में आई समस्त इच्छाओं का भली-भांति त्याग कर देता है और अपने मन को अपनी आत्मा में ही संतुष्ट रखता है तब उसे स्थितप्रज्ञ अर्थात

परिपक्व और स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

56. दुख आने पर जिसका मन विचलित नहीं होता और सुख आने पर जिसके मन में अधिक रूचि नहीं होती अर्थात अत्यधिक प्रसन्नता नहीं होती तथा जिसका मन राग, भय और क्रोध से मुक्त हो गया है, ऐसा मननशील व्यक्ति स्थिर बुद्धि कहलाता है।

57. जो मनुष्य सब जगह आसक्तिरहित रहता है अर्थात शुभ को प्राप्त करके न तो अतिप्रसन्न होता है और न ही अशुभ के प्राप्त होने पर उससे बहुत द्वेष या घृणा करता है, उसकी बुद्धि ही स्थिर कही जाती है।

58. जिस प्रकार से कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सब विषयों से दूर हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

59. मनुष्य इन्द्रिय भोगों से भले ही दूर हो जाये, परन्तु उसमें इन्द्रिय भोगों की इच्छा बनी रहती है; लेकिन परम तत्त्व की अनुभूति होने पर उस का विषयरस यानि भोगेच्छा भी समाप्त हो जाती है।

60. हे कुन्तीनन्दन! संयम का निरन्तर प्रयत्न करने पर भी विद्वान् मनुष्य की प्रबल व उत्तेजित इन्द्रियां उसके मन को बलपूर्वक हर लेती हैं।

61. इसलिए साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करके मुझमें श्रद्धापूर्वक ध्यान लगाकर बैठे; क्योंकि जिस मनुष्य की इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, वह स्थिर बुद्धि हो जाता है।

62. इन्द्रियों के विषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उसमें आसक्ति

अर्थात रूचि पैदा हो जाती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध पैदा होता है।

63. क्रोध होने पर सम्मोह या अविवेक अर्थात मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है। सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, जिससे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का अधोपतन हो जाता है।

64. जो व्यक्ति राग-द्वेष से दूर रहकर इन्द्रियों को वश में करने में समर्थ है और संयमपूर्वक विषयों के रस का आनंदपूर्वक भोग करता है, वही व्यक्ति भगवान की पूर्ण कृपा प्राप्त करता है।

65. ईश्वर की पूर्ण कृपा प्राप्त होने पर मनुष्य के सम्पूर्ण दुखों का नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्न चित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही परमात्मा में स्थिर हो जाती है।

66. जिस मनुष्य का मन व इन्द्रियां चंचल होती हैं उसकी बुद्धि भी स्थिर नहीं होती। बुद्धि अस्थिर होने से मनुष्य में कर्त्तव्य का भाव नहीं होता और निष्काम भाव न होने से उसे शांति नहीं मिलती। फिर ऐसे अशांत मनुष्य को सुख संतुष्टि कैसे मिल सकती है?

67. जिस प्रकार जल में चल रही नाव को प्रचंड वायु अपने साथ बहाकर ले जाती है, उसी प्रकार मनुष्य का मन विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में जिस इंद्री के साथ अधिक विचरता है, वही इंद्री मन के द्वारा उसकी बुद्धि को हर कर ले जाती है।

68. इसलिए हे महाबाहो! जिस मनुष्य की इन्द्रियां विषयों से विमुख या विरक्त होकर वश में की जा चुकी हैं, उसी मनुष्य की बुद्धि स्थिर होती है।

69. संसार के सभी जीवों के लिए जो रात्रि होती है, उसमें संयमी मनुष्य या योगी जागता है अर्थात् चिन्तन करता है। इसके विपरीत जब सब प्राणी जागते हैं अर्थात् सांसारिक कर्मों में व्यस्त होते हैं तो आत्मदर्शी ब्रह्मज्ञानी अथवा मुनि की दृष्टि में वह रात होती है अर्थात् वह शान्त चित्त रहता है।

70. जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियों का जल बिना कोई हलचल मचाये शांति से समुद्र में समा जाता है, ऐसे ही संसार के सारे भोग पदार्थ और इच्छाएँ सयंमी व्यक्ति के अंदर बिना कोई विकार उत्पन्न किये समा जाते हैं ; ऐसा मनुष्य ही परम शान्ति को प्राप्त होता है।

71. जो मनुष्य इन्द्रियों की तृप्ति की सभी कामनाओं को त्याग कर इच्छारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर आचरण करता है, वही परम शान्ति को प्राप्त करता है।

72. हे पार्थ! यह स्थिति ऐसे आध्यात्मिक मनुष्य की है जिसने ईश्वर को पा लिया है। इस स्थिति को प्राप्त पुरुष कभी भी मोहित नहीं होता। यदि कोई जीवन के अंतकाल में भी इस तरह स्थित हो जाए तो वह ब्रह्म निर्वाण अर्थात परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

अध्याय 3
कर्मयोग

अर्जुन अभी भी भ्रमित है और स्वजनों के साथ इस भयानक युद्ध में नहीं उलझना चाहता। भगवान विधि-विधान द्वारा निर्धारित नीयत कर्म को श्रेष्ठ बताते हैं। रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध को मनुष्य का महान शत्रु बताते हैं; क्योंकि काम असंतुष्ट रहकर अग्नि के समान जलता रहता है और ज्ञान को ढककर मन को भटका देता है। केवल स्थिर मन और बुद्धि से ही इस दुर्जय शत्रु काम को जीता जा सकता है। भगवान श्री कृष्ण जी कहते हैं कि पुरुष प्रकृति के गुणों के अधीन होने के कारण कर्म करने के लिए बेबस हो जाता है। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। भगवान अर्जुन को कहते हैं-"तुम सम्पूर्ण कर्त्तव्य-कर्मों को मेरे अर्पण करके युद्ध रुपी कर्त्तव्य-कर्म को करो। स्वधर्म का निर्वाह करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना भी कल्याणकारी है। पराये धर्म या मार्ग का अनुसरण करना भयावह होता है। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार कामवासना भी कभी सन्तुष्ट नहीं होती। तुम इन्द्रियों को वश में करके इस कामरूपी शत्रु का निश्चय ही वध करो।"

1. **अर्जुन ने कहा** - हे जनार्दन! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि या ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव! मुझे इस भीषण अर्थात भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं?

2. आप अपने बहुअर्थी वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित और बेचैन कर रहे हैं; अतः आप निश्चित रूप से केवल उसी एक बात को कहिये जिससे मेरा कल्याण हो जाये।

3. **श्री भगवान ने कहा** - हे निष्पाप अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा या श्रद्धा मेरे द्वारा पहले ही कही गयी है। उनमें से ज्ञानयोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग में होती है और परिश्रमी कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग में होती है।

4. मनुष्य न तो नीयत कर्मों से विमुख होकर कर्मबन्धन से छुटकारा पा सकता है और न केवल सन्यास से ही वह सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

5. कोई भी मनुष्य किसी भी काल में एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि पुरुष प्रकृति के गुणों के अधीन होने के कारण कर्म करने के लिए बेबस या बाध्य हो जाता है।

6. जो मनुष्य हठपूर्वक सभी कर्म इन्द्रियों को वश में तो कर लेता है, परन्तु उसका मन इन्द्रियों के विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मूढ़बुद्धि वाला मनुष्य अपने आपको धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

7. परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य मन द्वारा अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करके आसक्तिरहित होकर कर्म इन्द्रियों के द्वारा निष्काम भाव से कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ या उत्तम कहा जाता है।

8. तुम शास्त्रों के अनुसार अपना नीयत कर्म करो; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म किये बिना तो तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं होगा।

9. यज्ञकर्मों अर्थात कर्त्तव्य-कर्मों को छोड़कर जग के सारे कर्म बन्धन से युक्त हैं। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू कर्मफल की आसक्ति को त्यागकर उस यज्ञ रुपी कर्त्तव्य-कर्म को ही कर।

10. सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा जी ने यज्ञ से कर्त्तव्य-कर्मों के विधान सहित प्रजा की रचना की और उन्हें कहा कि तुम यज्ञ द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह यज्ञ तुम सब लोगों को ईष्टफल अर्थात वांछित फल देने वाला हो।

11. तुम लोग यज्ञ अर्थात कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो और देवतागण भी प्रसन्न होकर तुम मनुष्यों को उन्नत करेंगे। इस प्रकार परस्पर सहयोग से एक-दूसरे को सम्पन्न क्रतते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

12. यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता भी तुम लोगों को ईष्टफल अर्थात वांछित भोग प्रदान करते रहेंगे। परन्तु जो मनुष्य देवताओं द्वारा प्रदत्त भोगों का उन्हें अर्पित किये बिना या धन्यवाद किये बिना ही भोग करते हैं, वह निश्चित रूप से चोर हैं।

13. यज्ञ संपन्न होने के बाद बचे हुए अन्न को खाने वाले संत लोग सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपनी देह पोषण के लिए ही अन्न पकाते हैं अर्थात केवल अपने स्वार्थ के लिए ही सब कर्म करते हैं; वे पापी लोग तो केवल पाप का ही भक्षण करते हैं।

14. समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं; अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है; वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ कर्त्तव्य-कर्म करने से संपन्न होता है।

15. नियमित यज्ञकर्मों को तुम वेद से उत्पन्न जानो और वेद को अविनाशी ब्रह्मा से प्रकट हुआ जानो। इसलिए वह सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञकर्मों में सदैव स्थित रहता है।

16. हे पार्थ! जो मनुष्य इस संसार में प्रचलित अर्थात परम्परागत सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं चलता अर्थात कर्त्तव्य-कर्मों को नहीं करता; केवल इन्द्रिओं का सुख भोग करने वाला वह पापी मनुष्य व्यर्थ ही जीवन जीता है।

17. परन्तु जिस मनुष्य का आत्मसाक्षात्कार हो चुका है और वह अपने आप में ही रमण करने वाला, अपने आप में ही तृप्त और अपने आप में ही संतुष्ट है, उस आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

18. ऐसे आत्मनिष्ठ सिद्ध महापुरुष का इस संसार में कर्म करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। उसका किसी भी प्राणी के साथ स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रह जाता अर्थात वह किसी पर भी निर्भर नहीं करता।

19. इसलिए तुम कर्मफल में आसक्तिरहित होकर निरन्तर अपने कर्त्तव्य-कर्म का भली-भाँति पालन करो क्योंकि आसक्तिरहित रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

20. राजा जनक जैसे अनेक महापुरुषों ने कर्मयोग के द्वारा ही

परमसिद्धि प्राप्त की थी। इसलिए लोक कल्याण को देखते हुए और सामान्य जनों के सामने आदर्श प्रस्तुत करने हेतु तुम्हारा भी कर्मयोग का अनुसरण करना ही उचित है।

21. श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, सामान्य व्यक्ति भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो भी आदर्श प्रस्तुत करता है, जन समुदाय भी उसी का अनुसरण करता है।

22. हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अर्थात नीयत कर्म नहीं है; मुझे न ही कोई आवश्यकता है और न ही कोई अभाव है; फिर भी मैं अपने निर्धारित कर्त्तव्य-कर्म में लगा ही रहता हूँ।

23. क्योंकि हे पार्थ! यदि मैं सावधान होकर नीयत कर्म नहीं करूँगा तो यह मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुसरण करेंगे।

24. यदि मैं अपना कर्त्तव्य-कर्म नहीं करूँगा तो सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे और अवांछित संतानों के उत्पन्न होने के फलस्वरुप मैं प्रजा के विनाश व अराजकता का कारण बन जाऊँगा।

25. हे भारत! जिस प्रकार अज्ञानी लोग कर्मफल में आसक्त होकर अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान मनुष्यों को भी जनहित में आसक्तिरहित होकर अपना कर्म करना चाहिये।

26. ज्ञानी महापुरुषों को चाहिए कि वो कर्मफल में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि में भ्रम न उत्पन्न करें; बल्कि स्वयं भी समस्त नीयत कर्मों को भली-भाँति करते हुए दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दें।

27. वास्तव में भौतिक जगत के सारे कार्य प्रकृति के तीनो गुणों द्वारा ही संपन्न किये जाते हैं, परन्तु अहंकार वश अज्ञानी मनुष्य स्वयं को ही असली कर्त्ता समझ बैठता है।

28. परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्म विभाग के रहस्य को समझने वाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष यह जानता है कि प्रकृति के तीनों गुण मिलकर ही मनुष्य के गुणों का निर्माण करते हैं; ऐसा मानकर वह ज्ञानी कर्मों के कर्मफल में आसक्त नहीं होता है।

29. प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा अत्यंत मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं। लेकिन जो ज्ञानी गुण कर्मों के भेद को भली-भाँति जानते हैं, उन्हें मंदबुद्धि अज्ञानी मनुष्यों को सकाम कर्म के मार्ग से अचानक विचलित या भ्रमित नहीं करना चाहिए ताकि कहीं वो अपनी वर्तमान स्थिति से भी नीचे न गिर जाएँ।

30. अतः हे अर्जुन! तू विवेकवती बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण कर्त्तव्य-कर्मों को मेरे अर्पण करके कामनारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध रुपी कर्त्तव्य-कर्म को कर।

31. जो मनुष्य बिना आलोचना या दोष-दृष्टि के मेरे इस उपदेश का सदा श्रद्धापूर्वक अनुसरण करते हैं, वे भी सकाम कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

32. परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते; उन्हें तुम अज्ञानी, विवेकहीन व दिग्भ्रमित होकर नष्ट-भ्रष्ट हुए ही समझो अर्थात उनका पतन निश्चित है।

33. सृष्टि के सभी प्राणी अपनी प्रकृति अर्थात स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं। ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं। फिर इसमें इन्द्रियों का जबरदस्ती दमन करने का क्या लाभ है?

34. प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष मनुष्य के कल्याण के मार्ग में विघ्न डालने वाले सबसे बड़े शत्रु हैं। मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए।

35. अपने गुणरहित निजधर्म या स्वाभाविक कर्म को दोषपूर्ण ढंग से करना भी किसी अन्य के गुणपूर्ण या दोषरहित धर्म के पालन करने से अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म का निर्वाह करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना भी कल्याणकारी है। पराये धर्म या मार्ग का अनुसरण करना भयावह होता है।

36. **अर्जुन ने कहा** - हे वार्ष्णेय कृष्ण! फिर यह मनुष्य न चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है? कौन उससे जबरदस्ती या बलपूर्वक पापकर्म करवाता है?

37. **भगवान श्री कृष्ण जी बोले** - हे अर्जुन! प्रकृति में रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम ही पाप का कारण है; कामवासना पूरी न होने पर यह क्रोध का रूप धारण कर लेता है। यह काम महाभक्षी, महापापी और मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है।

38. जिस प्रकार धुएँ से आग और धूल से दर्पण ढक जाता है या आवरण से गर्भ ढका रहता है; उसी प्रकार मनुष्य की कामवासना उसके ज्ञान, विवेक या बुद्धि को ढक देती है।

39. **हे कुन्तीनन्दन**! जिस प्रकार प्रज्जवलित अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार कामवासना भी कभी सन्तुष्ट नहीं होती। काम और ज्ञान एक दूसरे के शाश्वत शत्रु हैं; अतः प्रबल कामवासना ज्ञानी मनुष्यों के विवेक या बुद्धि को भी ढक लेती है।

40. इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन सबको वश में करके मनुष्य के ज्ञान को ढक देता है और उसे मोहित करके भ्रमित कर देता है या भटका देता है।

41. इसलिए हे भरतवंशिओं में श्रेष्ठ अर्जुन! सर्वप्रथम तुम इन्द्रियों को वश में करो और फिर ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापी कामरूपी शत्रु का निश्चय ही बलपूर्वक वध करो।

42. मनुष्य की कर्म इन्द्रियां जड़ पदार्थ या स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, बलवान व सूक्ष्म हैं; मन इन्द्रियों से भी बढ़कर है और बुद्धि मन से भी उच्च है; परन्तु अन्तरात्मा बुद्धि से भी कहीं उच्च, श्रेष्ठ, बलवान व सूक्ष्म है।

43. इस प्रकार हे महाबाहो अर्जुन! अपनी अन्तरात्मा को बुद्धि से भी अत्यंत उच्च, श्रेष्ठ, बलवान व सूक्ष्म जानकर, बुद्धि द्वारा मन को वश में करके तुम इस काम रुपी दुर्जय शत्रु को मार डालो।

अध्याय 4
ज्ञानकर्मसन्यास योग का दिव्यज्ञान

भगवान श्रीकृष्ण जी गीता के इस अलौकिक सन्देश को सनातन और पुरातन बताते हुए कहते हैं कि यह दिव्यज्ञान उन्होंने ही आदिकाल में सूर्यदेव को दिया था। धर्म की हानि होने पर और अधर्म का उत्थान होने पर भगवान अपनी योगमाया शक्ति से हर युग में स्वयं प्रकट होते हैं; दुष्टों का संहार करके और साधुजनों की रक्षा करके पुनः धर्म की स्थापना करते हैं। श्री भगवान अर्जुन को बताते हैं की संशय या शंका ही मनुष्य के विनाश का सबसे बड़ा कारण है। ज्ञान की महिमा बताते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन को आचार्यों और गुरुओं के पास जाकर विनम्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्ति का परामर्श देते हैं। भगवान कहते हैं कि उस तत्त्वज्ञान को जान लेने पर तुम्हें फिर कभी इस प्रकार शंका नहीं होगी और तब तुम सब प्राणियों में मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा के ही दर्शन करोगे। इस दिव्यज्ञान को प्राप्त करके तुम शीघ्र ही परम शान्ति को पा लोगे। तुम्हारे हृदय में जो संशय है, उसको ज्ञान रुपी शस्त्र से काट डालो और समयोग में स्थित होकर युद्ध करो।

1. **भगवान श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहा** – मैंने इस अविनाशी योग विद्या का उपदेश कल्प के प्रारम्भ में सर्वप्रथम सूर्यदेव विवस्वान को दिया था; विवस्वान ने अपने पुत्र और मनुष्यों के पिता मनु को बताया और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को इसी कर्मयोग का ज्ञान दिया।

2. **हे शत्रुओं का दमन करने वाले अर्जुन**! इस प्रकार गुरु परम्परा के अनुसार उस कर्मयोग को राजऋषियों ने जान लिया, परन्तु बहुत समय उपरांत वह योग संसार में से धीरे-धीरे लुप्त प्रायः सा हो गया।

3. वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुमसे इसलिए कहा है क्योंकि यह एक अति उत्तम, अलौकिक एवं अत्यंत गोपनीय रहस्य है और तू मेरा परम भक्त और प्रिय मित्र है।

4. **अर्जुन ने कहा** - आपका जन्म तो अभी हुआ है, जबकि सूर्यदेव विवस्वान का जन्म तो सृष्टि के आरम्भ में ही हो चुका था। तब मैं यह कैसे मानूं कि आपने ही आदिकाल में सूर्यदेव को इस योग का उपदेश दिया था?

5. **श्री भगवान ने कहा** - हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे पहले भी अनेकों जन्म हो चुके हैं। मैं उन सभी जन्मों को जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जानते।

6. यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी स्वरूप और सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर हूँ, तो भी मैं युग-युग में अपनी प्रकृति को अपने अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।

7. **हे भरत के वंशज**! जब-जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब ही मैं स्वयं अपना सृजन करके देहधारी अवतार लेता हूँ।

8. साधुओं की रक्षा करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिए ही मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

9. हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं अर्थात अलौकिक हैं। अतः जो मनुष्य इस तत्त्व को भली-भाँति जान लेता है, उसका मृत्यु के पश्चात् इस भौतिक संसार में पुनर्जन्म नहीं होता है, अपितु वह सीधा मेरे पास सनातन परमधाम में आ जाता है।

10. आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त होकर, मुझमें तल्लीन होकर, मेरी शरण में आकर और ज्ञान रुपी तप से पवित्र होकर, बहुत सारे भक्त मेरे दिव्य-स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं।

11. हे पार्थ! जो भक्त जिस भाव से मेरी शरण में आते हैं, मैं उन्हें उन्हीं के अनुरूप ही फल देता हूँ अर्थात वांछित मनोकामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति करता हूँ; क्योंकि सब मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं।

12. इस संसार में सकाम कर्मों का फल चाहने वाले साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा अर्चना करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोक में कर्मफल की सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

13. प्रकृति के तीनों गुणों और कर्मों के आधार पर ही मैंने मानव समाज के चारों वर्णों की रचना की है। यद्यपि मैं ही इस सृष्टि का स्रष्टा हूँ; फिर भी तुम मुझ अविनाशी परमेश्वर को अकर्त्ता ही जानो क्योंकि सारी सृष्टि को तो प्रकृति के गुण ही चला रहे हैं।

14. कर्मों के बंधन मुझे नहीं बाँध सकते क्योंकि मुझे कर्मों के फल की कोई भी इच्छा या कामना नहीं है। जो भी मनुष्य इस रहस्य को भली-भाँति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी फिर कर्मफल के पाश में नहीं बँधता।

15. पूर्व काल के मोक्ष-प्राप्त मनुष्यों ने भी मेरे इस दिव्य रहस्य को जानकर ही कर्म किये हैं, इसलिए तुम भी उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करो।

16. कर्म क्या है और अकर्म क्या है? - इसका विचार करते हुए बड़े-बड़े विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित या मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए मैं तुम्हें कर्मतत्त्व के रहस्य को भली-भाँति समझाता हूँ, जिसे जानकर तुम सारे अशुभ सांसारिक कर्मबंधनों से मुक्त हो जाओगे।

17. कर्म अर्थात सकाम कर्म या स्वार्थपूर्ण कर्म; अकर्म अर्थात निष्काम कर्म या निस्वार्थ कर्म; विकर्म अर्थात पापकर्म या निषिद्ध कर्म; इन कर्मों के स्वरूप को भली-भाँति जान लेना चाहिए क्योंकि कर्मों की गति समझनी बहुत ही कठिन है अर्थात गहन या गूढ़ है।

18. जो मनुष्य सकाम कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्त्तव्य कर्म देखता है; वह सभी मनुष्यों में बुद्धिमान व योगी है और वह सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी दिव्य स्थिति में रहता है।

19. जिसके सम्पूर्ण कर्मों का आरम्भ कर्मफल की कामना के संकल्प अर्थात आसक्ति से रहित है तथा जिसके सारे कर्म ज्ञानरूपी अग्नि में जलकर भस्म हो चुके हैं; ऐसे मनुष्य को ही ज्ञानी लोग पंडित अर्थात बुद्धिमान कहते हैं।

20. जो मनुष्य कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके सदैव संतुष्ट रहता है और भगवान के सिवाय किसी का भी आश्रय नहीं लेता

है, वह सब प्रकार के कर्मों में लीन रहकर भी वास्तव में कोई सकाम कर्म या स्वार्थ कर्म नहीं करता।

21. जिसका मन, इन्द्रियां और अन्तःकरण वश में हैं, जिसने सब प्रकार की सांसारिक वस्तुओं के संग्रह का परित्याग कर दिया है; ऐसा इच्छारहित कर्मयोगी केवल शरीर के निर्वाह के लिए ही कर्म करता है और कभी पाप को प्राप्त नहीं होता है।

22. जो कर्मयोगी फल की इच्छा के बिना जो कुछ भी स्वतः मिल जाये, उसी में संतुष्ट रहता है; हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से अर्थात दुविधा से रहित है, ईर्ष्या नहीं करता, सफलता और असफलता में समभाव रहता है, वह कर्मयोगी सारे कर्म करता हुआ भी कर्म-बंधन में नहीं बँधता।

23. जिस मनुष्य की आसक्ति सर्वथा मिट चुकी है; जो मुक्त हो चुका है; जिसकी बुद्धि दिव्य ज्ञान में स्थित हो चुकी है; ऐसे यज्ञ-कर्म करने वाले मनुष्य के सारे कर्म पूर्णतया ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

24. यज्ञ-कर्म में हवन, क्रिया, अर्पण के पात्र, हवनीय पदार्थ, अग्नि तथा आहुति देने वाले सभी परब्रह्म परमात्मा स्वरूप ही हैं, ब्रह्मस्वरूप कर्मयोगी के सभी कर्मफल भी ब्रह्म ही हैं अर्थात यज्ञ के कर्मफल के रूप में उस योगी को निश्चित ही ब्रह्म-समाधि प्राप्त हो जाती है।

25. कुछ योगीजन देवताओं का पूजनरुपी यज्ञ करते हैं और कोई अन्य ज्ञानीजन ब्रह्मस्वरूप अग्नि में विचाररूप यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का हवन करते हैं अर्थात विविध प्रकार से परब्रह्म प्राप्ति के लिए यज्ञ-हवन करते हैं।

15. पूर्व काल के मोक्ष-प्राप्त मनुष्यों ने भी मेरे इस दिव्य रहस्य को जानकर ही कर्म किये हैं, इसलिए तुम भी उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करो।

16. कर्म क्या है और अकर्म क्या है? - इसका विचार करते हुए बड़े-बड़े विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित या मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए मैं तुम्हें कर्मतत्त्व के रहस्य को भली-भाँति समझाता हूँ, जिसे जानकर तुम सारे अशुभ सांसारिक कर्मबंधनों से मुक्त हो जाओगे।

17. कर्म अर्थात सकाम कर्म या स्वार्थपूर्ण कर्म; अकर्म अर्थात निष्काम कर्म या निस्वार्थ कर्म; विकर्म अर्थात पापकर्म या निषिद्ध कर्म; इन कर्मों के स्वरूप को भली-भाँति जान लेना चाहिए क्योंकि कर्मों की गति समझनी बहुत ही कठिन है अर्थात गहन या गूढ़ है।

18. जो मनुष्य सकाम कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्त्तव्य कर्म देखता है; वह सभी मनुष्यों में बुद्धिमान व योगी है और वह सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी दिव्य स्थिति में रहता है।

19. जिसके सम्पूर्ण कर्मों का आरम्भ कर्मफल की कामना के संकल्प अर्थात आसक्ति से रहित है तथा जिसके सारे कर्म ज्ञानरूपी अग्नि में जलकर भस्म हो चुके हैं; ऐसे मनुष्य को ही ज्ञानी लोग पंडित अर्थात बुद्धिमान कहते हैं।

20. जो मनुष्य कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके सदैव संतुष्ट रहता है और भगवान के सिवाय किसी का भी आश्रय नहीं लेता

है, वह सब प्रकार के कर्मों में लीन रहकर भी वास्तव में कोई सकाम कर्म या स्वार्थ कर्म नहीं करता।

21. जिसका मन, इन्द्रियां और अन्तःकरण वश में हैं, जिसने सब प्रकार की सांसारिक वस्तुओं के संग्रह का परित्याग कर दिया है; ऐसा इच्छारहित कर्मयोगी केवल शरीर के निर्वाह के लिए ही कर्म करता है और कभी पाप को प्राप्त नहीं होता है।

22. जो कर्मयोगी फल की इच्छा के बिना जो कुछ भी स्वतः मिल जाये, उसी में संतुष्ट रहता है; हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से अर्थात दुविधा से रहित है, ईर्ष्या नहीं करता, सफलता और असफलता में समभाव रहता है, वह कर्मयोगी सारे कर्म करता हुआ भी कर्म-बंधन में नहीं बँधता।

23. जिस मनुष्य की आसक्ति सर्वथा मिट चुकी है; जो मुक्त हो चुका है; जिसकी बुद्धि दिव्य ज्ञान में स्थित हो चुकी है; ऐसे यज्ञ-कर्म करने वाले मनुष्य के सारे कर्म पूर्णतया ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

24. यज्ञ-कर्म में हवन, क्रिया, अर्पण के पात्र, हवनीय पदार्थ, अग्नि तथा आहुति देने वाले सभी परब्रह्म परमात्मा स्वरूप ही हैं, ब्रह्मस्वरूप कर्मयोगी के सभी कर्मफल भी ब्रह्म ही हैं अर्थात यज्ञ के कर्मफल के रूप में उस योगी को निश्चित ही ब्रह्म-समाधि प्राप्त हो जाती है।

25. कुछ योगीजन देवताओं का पूजनरुपी यज्ञ करते हैं और कोई अन्य ज्ञानीजन ब्रह्मस्वरूप अग्नि में विचाररूप यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का हवन करते हैं अर्थात विविध प्रकार से परब्रह्म प्राप्ति के लिए यज्ञ-हवन करते हैं।

26. अन्य योगीजन नेत्र, गंध या घ्राण, जीभ, श्रोत्र या कान और त्वचा आदि समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण करके संयम-रुपी अग्नि में हवन करते हैं तथा कुछ दूसरे योगी लोग रूप, गंध, रस, शब्द और स्पर्श आदि समस्त विषयों का त्याग करके ज्ञान-रुपी अग्नि में उनका हवन करते हैं।

27. कोई दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों अर्थात ज्ञानेन्द्रिओं और कर्मेन्द्रिओं तथा प्राण-वायु की क्रियाओं का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयम योग रुपी अग्नि में हवन करते हैं।

28. कई अन्य दृढ़-प्रतिज्ञ प्रबुद्ध साधक मात्र संसार के हित के लिए निःस्वार्थ भाव से दान इत्यादि द्रव्ययज्ञ करते हैं, कई प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कठिन तपस्या करते हैं, कई हर हालत में समभाव में रहते हुए योगयज्ञ करते हैं; तथा कितने ही यथापूर्वक शास्त्रों का पठन-पाठन व अध्ययन करते हुए स्वाध्याय-रुपी ज्ञान यज्ञ करते हैं।

29. दूसरे कितने ही प्राणायाम करने वाले योगी लोग अपान (श्वास को भीतर ले जाना) में प्राण (श्वास को बाहर निकालना) का पूरक करके (प्राणवायु का अपानवायु में लीन होना); फिर प्राण और अपान दोनों की गति रोककर (कुम्बक करके); फिर प्राण में अपान का हवन रेचक करके (प्राणवायु के पीछे-पीछे अपानवायु का भी बाहर निकालना) समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

30. कितने ही अन्य योगी पुरुष नियमित आहार करते हुए अपने प्राणों का प्राणवायु में हवन करते हैं। यह सभी साधक यज्ञों के ज्ञाता हैं और यज्ञों के द्वारा ही पापों का शमन करते हैं।

31. हे कुरुश्रेष्ठ! जो योगीजन यज्ञों द्वारा प्राप्त ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं वह सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जो लोग यज्ञादि कर्म नहीं करते, उनके लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदाई होगा?

32. इस प्रकार वेदों में और भी बहुत तरह के यज्ञों का विस्तार से वर्णन किया गया है। उन सब यज्ञों को तुम करने योग्य जानो। यह जानकर यज्ञ-कर्म करते हुए तुम कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

33. हे परन्तप! ज्ञान-यज्ञ द्रव्य-यज्ञ से श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण कर्मों की पराकाष्ठा है अर्थात अन्तिम परिणति है।

34. तुम तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के पास जाकर उस तत्त्वज्ञान को समझो। उन तत्त्वज्ञानिओं को साष्टांग दण्डवत प्रणाम करो, उनकी सेवा करो और उनसे सरल स्वभाव से प्रश्न करो, जिससे वे तत्त्वदर्शी अर्थात अनुभवी ज्ञानी महापुरुष तुम्हें उस तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।

35. हे पाँडव! उस तत्त्वज्ञान को जान लेने पर तुम्हें फिर कभी इस प्रकार भ्रम नहीं होगा। हे अर्जुन! उस ज्ञान की प्राप्ति होने पर तुम अपने आप में व संसार के सम्पूर्ण प्राणियों में मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा के ही दर्शन करोगे।

36. यदि तुम समस्त पापियों में से भी सर्वाधिक पापी हो तो भी ब्रह्मज्ञान रुपी नौका के द्वारा निःसंदेह तुम इस सम्पूर्ण पापरुपी भवसागर को कुशलतापूर्वक पार कर जाओगे।

37. हे अर्जुन! जैसे प्रज्जवलित अग्नि सब प्रकार के ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान-रुपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को अर्थात सभी प्रकार के कर्मफलों व कर्मबन्धनों को सर्वथा भस्म कर देती है।

38. इस संसार में ब्रह्मज्ञान के तुल्य कुछ भी पवित्र व शुद्ध नहीं है। जो मनुष्य योग में स्वयंसिद्ध हो जाता है, उसे यथासमय आने पर अपने अन्दर ही उस दिव्यज्ञान की अनुभूति हो जाती है।

39. जो मनुष्य श्रद्धावान, जितेन्द्रिय तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए सदैव तत्पर है, उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है। दिव्य ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम-शान्ति को पा लेता है।

40. जो मनुष्य विवेकहीन, श्रद्धाविहीन व संशययुक्त रहता है, उसका पतन हो जाता है। शंकाग्रस्त व्यक्ति के लिए न तो इस लोक में और न ही परलोक में कोई सुख है।

41. हे धनञ्जय! जिस मनुष्य ने कर्मयोग के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों से सम्बन्धविच्छेद कर लिया है अर्थात सभी कर्मफलों का परित्याग कर दिया है; दिव्य ज्ञान के द्वारा जिसके सब संशय नष्ट हो गए हैं, ऐसे आत्मस्वरूप मनुष्य को कर्म नहीं बाँध सकते।

42. इसलिए हे भारत! तुम्हारे हृदय में अज्ञान से उत्पन्न जो संशय है, उसको तुम ज्ञान-रुपी शस्त्र से काट डालो और समयोग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

अध्याय 5
कर्मसन्यास योग

अर्जुन के भ्रम को दूर करने के लिए भगवान कर्म और सन्यास मार्ग के बारे में स्पष्ट करते हैं; हालांकि दोनों पथ मनुष्य को मोक्ष दिलवा सकते है, लेकिन फिर भी सन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म अधिक विशिष्ट है। भगवान श्री कृष्ण जी इन्द्रियों के भोगों की लालसा को ही सब सांसारिक दुखों का कारण बताते हैं; वे अर्जुन को सलाह देते हैं जो मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही निष्काम कर्म करके परब्रह्म को समर्पित कर देता है, वो ही वास्तव में मुक्ति का अधिकारी है। जिसका शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों सहित वश में है और जो सम्पूर्ण कर्मफलों का परित्याग कर देता है, वह विवेकी ऋषि निश्चय ही मुक्ति को प्राप्त होता है। ईश्वर न तो मनुष्यों से कर्म करवाता है और न ही किसी को कर्मफल देता है, यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा निर्मित स्वभाव से ही होता है। श्री कृष्ण जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि वे ही इस जगत के सम्पूर्ण प्राणियों के मित्र, सब लोकों के महेश्वर और हर यज्ञ और तप के अंतिम भोक्ता हैं।

1. **अर्जुन ने कहा** - हे कृष्ण! एक तरफ तो आप कर्म के त्यागने की बात करते हैं और दूसरी तरफ आप कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों साधनों में से एक जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, वही मेरे लिए कहिये।

2. श्री भगवान ने कहा - कर्मसन्यास (साँख्य योग) और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं। परन्तु फिर भी इन दोनों में से निष्काम कर्मयोग कर्मसन्यास से अर्थात सांख्य योग से श्रेष्ठ है।

3. हे महाबाहो! जो मनुष्य न तो किसी से द्वेष अर्थात घृणा करता है और न ही किसी वस्तु की आकांक्षा या कामना करता है; वैसे मनुष्य को तो सदा सन्यासी ही समझना चाहिए। क्योंकि राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित वह मनुष्य संसाररुपी बन्धन से सुखपूर्वक अर्थात सहज ही मुक्त हो जाता है।

4. अज्ञानी लोग या अल्पज्ञ ही सन्यासयोग को और कर्मयोग को अलग-अलग फल देने वाला कहते हैं न कि पण्डित या विद्वान् लोग; क्योंकि इन दोनों में से किसी एक मार्ग का भी भली-भाँति अनुसरण करने पर मनुष्य दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।

5. जो आध्यात्मिक स्थान कर्मसन्यासी या सांख्ययोगी प्राप्त करते हैं, उसी को निष्काम कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं। अतः जो मनुष्य कर्मसन्यासयोग और निष्काम कर्मयोग को फलस्वरूप एक समान देखता है, वास्तव में वही ठीक देखता है।

6. परन्तु हे महाबाहो अर्जुन! कर्मयोग के बिना सन्यासयोग या सांख्ययोग का सिद्ध होना बहुत कठिन है; लेकिन मननशील निष्काम कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

7. जिस कर्मयोगी का मन और इन्द्रियां अपने वश में हैं, आत्मसंयमी है, अंतःकरण निर्मल है और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी

उनमें लिप्त नहीं होता।

8. तत्त्वज्ञाता ज्ञानयोगी देखते, सुनते, सूँघते, स्पर्श करते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते तथा श्वास लेते हुए भी अपने अंर्तमन में सदैव मानता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं कर रहा है।

9. विवेकशील साधक बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आँखे खोलते या बंद करते हुए भी यह जानता है कि सभी भौतिक इन्द्रियां अपने-अपने कार्य कर रही हैं और वह निश्चय ही कुछ भी नहीं कर रहा है।

10. जो मनुष्य आसक्ति का त्याग करके अपने सम्पूर्ण कर्मों को परमात्मा को समर्पित कर देता है, वह कमल के पत्ते की तरह जलरुपी पाप से लिप्त नहीं होता।

11. निष्काम कर्मयोगी मनुष्य आसक्ति का त्याग करके शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा केवल अंतःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं।

12. निष्काम कर्मयोगी कर्मफल का परित्याग करके परमात्मा से परमशान्ति प्राप्त करता है, किन्तु सकामी मनुष्य कर्मफल के प्रति आसक्त होकर बँधन में बँध जाता है।

13. जब कोई देहधारी मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर लेता है और मन से सम्पूर्ण कर्मफलों का परित्याग कर देता है तब वह निस्संदेह ही नौ द्वारों वाले नगर अर्थात इस भौतिक शरीर में बिना कुछ किये कराये आनंदपूर्वक रहता है।

14. ईश्वर न तो मनुष्यों के कर्मों का सृजन करता है, न ही उन को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और न ही उनके कर्मफल की रचना करता है। यह तो प्रकृति के गुणों द्वारा निर्मित स्वभाव से ही सब कर्म करवाये जाते हैं।

15. परमेश्वर न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है और न ही किसी के पुण्य को। वस्तुता जीवों के ज्ञान को जब अज्ञान ढक लेता है तो उस अज्ञान के कारण जीव भ्रमित या मोहित हो जाते हैं।

16. परन्तु जिन्होंने अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट कर दिया है; उनका आत्मज्ञान परमात्मा को उसी प्रकार प्रकट कर देता है जैसे सूर्य उदय होने पर सारी वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है।

17. जिन मनुष्यों की बुद्धि, मन, श्रद्धा और शरण परमात्मा में स्थिर हो जाती है, ऐसे भगवत परायण साधक तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके पाप रहित हो जाते हैं और परमगति को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

18. ऐसे ज्ञानी महापुरुष एक विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण को एवं चाण्डाल को तथा गाय, हाथी और कुत्ते आदि सबको समभाव से देखते हैं अर्थात उन सभी में समरूप परमात्मा के दर्शन करते हैं।

19. जिन मनुष्यों का मन समभाव में स्थित है और उन्होंने अपने जीवन में ही सम्पूर्ण संसार को जीत लिया है अर्थात सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, ऐसे समदर्शी मनुष्य ब्रह्म के समान

निर्दोष हैं एवं सदा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

20. जो मनुष्य प्रिय वस्तु को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके विचलित नहीं होता; ऐसा स्थिर बुद्धि, संशय-रहित और ब्रह्म को जानने वाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थित रहता है।

21. जो मनुष्य भौतिक इन्द्रिय सुख की ओर आकृष्ट नहीं होता अर्थात सांसारिक भोगों के प्रति निरासक्त रहता है, ऐसा ब्रह्मयुक्त व्यक्ति अपने अंतःकरण में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके अक्षय परमसुख का अनुभव करता है।

22. हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोगों का आदि और अन्त होता है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य इन भौतिक सुखों में लिप्त नहीं होते।

23. जो मनुष्य इस जीवन में मृत्यु से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है अर्थात काम और क्रोध को जीत लेता है, वही नर इस संसार में योगी कहलाता है और वही सुखी भी।

24. जो मनुष्य अंतःकरण में सुख का अनुभव करता है, अंतःकरण में ही रमण करता है और आत्मज्ञानी है; वह ब्रह्मस्वरूप योगी ब्रह्मनिर्वाण अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

25. जिनका शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों सहित वश में है; जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गए हैं, जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गए हैं, वे विवेकी ब्रह्मवेत्ता ऋषि

अन्ततः ब्रह्मनिर्वाण को अर्थात मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

26. जो काम-क्रोध से सर्वथा रहित हैं, मन पर जिन्होंने नियन्त्रण पा लिया है, आत्मस्वरूप का जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे सन्यासी ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति तो सुनिश्चित है अर्थात वे सहज ही ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

27-28 जो मनुष्य सभी इन्द्रिय विषयों को मन से बाहर करके, नेत्रों की दृष्टि को भौहों के मध्य में केंद्रित करके, नासिका में विचरणे वाले प्राण तथा अपान वायु को सम करके अर्थात नथुनों के भीतर रोककर रखता है; और जो इन्द्रिओं, मन और बुद्धि को अपने वश में करके मोक्ष को लक्ष्य बनाता है; तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है; वह मुनि निश्चय ही सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

29. मुझे भजने वाला मेरा भक्त मुझे सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और समस्त प्राणियों का मित्र जानकर परमशान्ति को प्राप्त करता है।

अध्याय 6
ध्यानयोग अथवा आत्मसंयम योग

भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि फल प्राप्ति की इच्छा के त्याग के बिना कोई भी योगी या सन्यासी नहीं बन सकता। अगर मनुष्य मन को संयम में रखकर इन्द्रियों पर नियंत्रण करले तो मन परममित्र है, अन्यथा अनियंत्रित मन ही मनुष्य का परमशत्रु बन जाता है। लेकिन वायु के समान हठी व दुष्कर मन को सतत अभ्यास, एकाग्रचित्त, आत्मसंयम और वैराग्य के द्वारा ही वश में किया जा सकता है। जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, वैसे ही योगाभ्यास द्वारा योगी का चित्त भी परमात्मा में स्थिर हो जाता है। ऐसा दिव्य-सुख प्राप्त करने के पश्चात् ध्यानयोगी कभी भी अध्यात्म के पथ से विचलित नहीं होता बल्कि उत्साहपूर्वक और निश्चय पूर्वक चलता जाता है। जो मनुष्य समभाव में रहता है, उसी के योगी बनने के आसार हैं। अगर कोई योगी अभ्यास करते हुए मृत्यु को प्राप्त भी हो जाता है तो भी संयोग वश उसका पुनर्जन्म सदाचारी धनवानों के घर में होता है, जहाँ से वह फिर अपनी आगे की आध्यात्मिक यात्रा शुरू करता है।

1. **श्री भगवान ने कहा** - जो मनुष्य कर्मफल की कामना न करते हुए भी करने योग्य कर्मों अर्थात कर्त्तव्यों का पालन करता रहता है, वही सच्चा सन्यासी और योगी है। केवल अग्नि का परित्याग करने से या क्रियाओं का त्याग करने से कोई सन्यासी या योगी नहीं हो जाता।

2. **हे पाण्डव**! जिसे सन्यास कहते हैं उसी तो तुम कर्मयोग समझो; क्योंकि इन्द्रिय तृप्ति के संकल्प का त्याग किये बिना अथवा तृष्णा का त्याग किये बिना कोई भी कभी योगी नहीं हो सकता।

3. जिसने अभी योग प्रारम्भ किया है, उस मननशील योगी के लिए कर्त्तव्य-कर्म ही साधन कहलाता है। योगप्राप्ति होने पर योगसिद्ध पुरुष के लिए सभी क्रिया-कलापों का परित्याग ही साधन कहा गया है।

4. क्योंकि जब कोई मनुष्य न तो समस्त इन्द्रियों के भोगों में और न ही सकाम कर्मों में आसक्त होता है, तब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करने वाला वह पुरुष योगारूढ़ अथवा योगस्थित कहलाता है।

5. मनुष्य को चाहिए कि वो अपने मन की सहायता से स्वयं का उद्धार करे और अपना पतन न होने दे; क्योंकि यह मन बद्धजीव का मित्र भी है और यही मन शत्रु भी।

6. जिस जीवात्मा ने अपने मन और इन्द्रियों को बुद्धि की सहायता से जीत लिया है, उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है; किन्तु जो प्राणी ऐसा नहीं कर पाता, उसके लिए उसका अनियन्त्रित मन ही शत्रु के समान आचरण करता है।

7. जिसने अपने मन को जीत कर वश में कर लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त रहता है, ऐसे जितेन्द्रिय मनुष्य का मन सदा परमात्मा में स्थित रहता है।

8. जिस मनुष्य का अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जो निर्विकार है अर्थात आध्यात्मिक रूप से समभाव में स्थित है,

अपनी इन्द्रियों को जीत चुका है; जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा सोना एक समान है, ऐसा योगी ही सच में योगारूढ़ कहा जाता है।

9. जो मनुष्य सुहृद, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, सम्बन्धियों, धर्मात्माओं और पापियों के प्रति भी समभाव अर्थात एक जैसा व्यवहार रखता है, वह सबसे श्रेष्ठ है।

10. योगी को चाहिए कि वह शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को वश में रखते हुए, एकांत में रहकर, मन को निरन्तर परमात्मा में लगा कर रखे। उसे न तो किसी से कोई आशा रखनी चाहिए और न ही भोग की वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए।

11. योगी को चाहिए कि वह शुद्ध और पवित्र भूमि पर क्रमशः कुशा, मृगशाला और स्वच्छ वस्त्र बिछाकर अपना स्थिर आसन स्थापित करे, जो न तो बहुत ऊँचा हो और न ही बहुत नीचा।

12. फिर उसे उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों को वश में रखते हुए, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिए।

13. योगी को चाहिए कि वह अपने शरीर, गर्दन तथा सिर को सीधा व अचल रखे; किसी दूसरी दिशा में न देखे और केवल अपनी नाक के अग्रभाग पर दृष्टि केंद्रित करके स्थिर होकर बैठे।

14. इस प्रकार वह शांत अन्तःकरण वाला, भयरहित, ब्रह्मचारी, ध्यानयोगी, मन का संयम करते हुए हृदय में मेरा ही चिन्तन करे और मुझे ही अपना चरम लक्ष्य मानकर मुझमें ध्यान लगाकर बैठ जाए।

15. इस प्रकार संयत मन वाला योगी सदैव अपनी आत्मा को मुझ

परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करता रहता है और देहनिधन होने पर परमशान्ति अर्थात सनातन भगवदधाम को प्राप्त करता है।

16. **हे अर्जुन**! ऐसे मनुष्य का कदापि योग सिद्ध नहीं होता अर्थात उसकी योगी बनने की सम्भावना बहुत कम है जो या तो बहुत अधिक खाता है या बिल्कुल ही नहीं खाता; जो या तो बहुत अधिक सोता है या बिल्कुल ही नहीं सोता अर्थात देर तक जागता रहता है।

17. दुःखों का नाश करने वाले इस योग की सिद्धि तो नियमित आहार-विहार करने वालों, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वालों तथा नियमित रूप से सोने वालों और जागने वालों की ही होती है।

18. योगाभ्यास द्वारा जब मनुष्य पूर्णरूप से चित्त को वश में कर लेता है और सब प्रकार की काम तृष्णा से मुक्त होकर परमात्मा में भली-भांति स्थित हो जाता है, तब वह मनुष्य सच्चा योगी कहलाता है।

19. जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, ठीक उसी प्रकार योगाभ्यास द्वारा वश में किया हुआ योगी का चित्त भी परमात्मा में स्थिर हो जाता है।

20. योग का सेवन करने के बाद निवृत्त मन जब समस्त वस्तुओं से विरक्त हो जाता है, तब वह योगी निर्मल मन के द्वारा अपनी आत्मा में ही परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है और आत्मसंतुष्ट हो जाता है।

21. इस प्रकार योगी अनंत, अलौकिक परम-सुख का अनुभव करता है जो कि बुद्धि द्वारा भी ग्रहण करने योग्य है। यह दिव्य-सुख

प्राप्त करने के पश्चात ध्यानयोगी कभी भी अध्यात्म के पथ से विचलित नहीं होता।

22. परमात्मा की प्राप्ति होने पर योगी इससे बड़ा और कोई लाभ नहीं मानता। ऐसी आध्यात्मिक स्थिति को पाकर योगी बड़े भारी दुख से भी विचलित नहीं होता।

23. जो मनुष्य भौतिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले समस्त दुखों से दूर है, उसे तुम योग-समाधि में ही जानो। मनुष्य को ध्यानयोग का अभ्यास उत्साहपूर्वक और निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

24. मनुष्य को चाहिए कि सम्पूर्ण सकाम कर्मों का सर्वथा परित्याग करके मन के द्वारा सभी इन्द्रियों को सब प्रकार के विषयों से हटाकर अपने वश में कर ले।

25. साधक को धीरे-धीरे धैर्यपूर्वक बुद्धि के द्वारा संसार से निवृत्त होकर समाधि में स्थित होना चाहिए और मन को आत्मस्वरूप परमात्मा में स्थिर करके फिर अन्य कुछ भी नहीं सोचना चाहिए।

26. मनुष्य को चाहिए कि यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी विचरण करे, उसे वहाँ-वहाँ से हटाकर अर्थात खींचकर अपने वश में ले आये।

27. जिस योगी का मन सर्वथा शांत हो गया है, जिसके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिसकी सभी रजोगुणी प्रवृतियाँ अर्थात काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नष्ट हो गई हैं, ऐसे ब्रह्मस्वरूप योगी को निश्चित ही दिव्य सुख प्राप्त होता है।

28. इस प्रकार वह निष्पाप योगी अपनी आत्मा को सतत परमात्मा में लगाकर, सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा को पाकर अलौकिक आनंद

की अनुभूति करता है।

29. वास्तविक योगी सम्पूर्ण प्राणियों में अपने स्वरूप को देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है अर्थात सच्चा सन्यासी उस चेतन आत्मा को सभी जीवों में और सभी जीवों को अपनी चेतन आत्मा में देखता है।

30. जो भक्त सब में मुझको देखता है और मुझ में सबको देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।

31. जो योगी अपने आप को मेरा अभिन्न अंग मानकर सम्पूर्ण प्राणियों में मुझ परमात्मा को ही स्थित जानकर मेरी उपासना करता है, वैसा योगी हर प्रकार से मुझमें सदैव स्थित रहता है।

32. हे अर्जुन! जो योगी अन्य सभी प्राणियों में भी अपनी आत्मा के समान ही आत्मा को देखता है और सभी के सुख-दुख को भी समरूप से अनुभव करता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना जाता है।

33. अर्जुन ने कहा - हे मधुसूदन! यह जो आपने ध्यानयोग की समभाव अवस्था का वर्णन किया है, मन की चंचलता और अस्थिरता के कारण मैं इस योग की स्थिति को ठीक से नहीं समझ पा रहा हूँ।

34. क्योंकि हे कृष्ण! यह मन बड़ा ही चंचल, विचलित करने वाला अर्थात क्षुब्द करने वाला, दृढ़, जिद्दी व हठीला और बलवान है, अतः इसको वश में करना उतना ही कठिन है, जितना आकाश में स्थित वेगवान वायु को वश में करना।

35. श्री भगवान ने कहा - हे महाबाहो! निस्संदेह यह मन बड़ा ही चंचल है और इसका दमन करना भी अत्यंत कठिन है, परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ऐसा संभव है।

36. जिसका मन उसके वश में नहीं है, उसे योग की प्राप्ति होना बड़ा कठिन है; परन्तु जिसने उपायपूर्वक यत्न करके मन पर नियंत्रण पा लिया है, उस साधक के लिए योगसिद्ध होना सहज है, ऐसा मेरा मत है।

37. अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण! जिस साधक में श्रद्धा तो है, परन्तु प्रयत्न करने में शिथिल है और वह योगमार्ग से विचलित होकर योगसिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता, फिर ऐसे असफल योगी की क्या गति होती है?

38. हे महाबाहो कृष्ण! जो साधक सांसारिक प्रतिष्ठा से भी रहित हो जाता है और भगवतप्राप्ति के मार्ग से भी विचलित हो जाता है अर्थात दोनों ओर से पथ-भ्रष्ट हो जाता है, क्या वह छिन्न-भिन्न बादल की भाँति विनष्ट तो नहीं हो जाता?

39. हे कृष्ण! मेरे इस संशय का निवारण करने में आप ही सर्वथा योग्य अर्थात समर्थ हैं; क्योंकि आप के सिवाय इस संदेह को दूर करना किसी और के लिए सम्भव नहीं है।

40. भगवान श्री कृष्ण जी बोले - हे पार्थ! उस साधक का न तो इस लोक में और न ही परलोक में विनाश होता है; क्योंकि हे मित्र! लोक-कल्याण में लगे हुए किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है।

41. वह पथ-भ्रष्ट साधक अर्थात असफल योगी पुण्य-आत्माओं के स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों में चिरकाल तक निवास करके और सुख

भोगकर कालांतर में शुद्ध-पवित्र विद्वानों के या सदाचारी धनवानों के घर में जन्म लेता है।

42. अथवा वह योग-भ्रष्ट साधक ज्ञानवान योगिओं के परिवार में ही जन्म लेता है। निश्चय ही इस संसार में ऐसा जन्म मिलना अत्यंत ही दुर्लभ है।

43. हे कुरुनन्दन! फिर उस साधक को दैवी चेतना से वहां पर पूर्व जन्म का बुद्धि-संयोग अनायास ही प्राप्त हो जाता है तथा वह योगसिद्धि के उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु पुनः पहले से भी अधिक प्रयास प्रारम्भ कर देता है।

44. वह अपने पूर्वजन्म की अभ्यास साधना के कारण दैवी चेतना को प्राप्त करके सहज ही परमात्मा की ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसा जिज्ञासु योगी वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को भी लाँघ जाता है अर्थात उनसे भी ऊपर उठ जाता है।

45. परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक प्रयास करता रहता है और जन्म-जन्मांतरों के अभ्यास के पश्चात अपने सब पापकर्मों को नष्ट कर देता है, वह सिद्धयोगी निस्संदेह परमगति अर्थात मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

46. हे अर्जुन! मेरे मत में सिद्धयोगी तो तपस्वियों, ज्ञानियों तथा सकाम कर्मियों से भी श्रेष्ठ है - अतः तुम योगी बनो।

47. समस्त योगियों में से भी जो योगीभक्त अत्यंत श्रद्धापूर्वक मुझमें तल्लीन होकर एकाग्र अन्तःकरण से मेरा भजन करता है, वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है।

अध्याय 7
ज्ञानविज्ञान योग अथवा भगवदज्ञान

भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को ज्ञान और विज्ञान के विषय में बताते हुए अपनी जड़ या अपरा और चेतन या परा प्रकृति की जानकारी देते हैं। जड़ और चेतन शक्तियों के मिलन या अलगाव से ही सृष्टि का प्रभव या प्रलय सम्भव हो पाता है। असंख्य यत्नशील मनुष्य सिद्धि-प्राप्ति की कोशिश करते हैं, लेकिन कोई विरला ही मेरे तत्त्व को समझ पाता है। मैं प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के स्वरूप में स्थित हूँ। मूर्ख मनुष्य यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा और अविनाशी परमब्रह्म परमात्मा हूँ। दुष्ट और आसुरी स्वभाव के लोग मेरी शरण में नहीं आते। भोगों की कामना के कारण जिनका ज्ञान हरा जा चुका है और बुद्धि मारी जा चुकी है ऐसे मनुष्य अन्य देवताओं की शरण में चले जाते हैं; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आ जाते हैं वे इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को सरलता से पार कर जाते हैं। मैं सदैव अपनी योगमाया से ढका रहता हूँ; इसलिए मूढ़ व अज्ञानी मेरे वास्तविक रूप को नहीं समझ पाते; केवल ज्ञानी और अनन्य भक्त ही मुझे तत्त्व से जान पाते हैं। जो भी मनुष्य मेरा भजन करते हैं, उनमें ज्ञानी लोग मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं।

1. श्री भगवान बोले - किस प्रकार तुम मन को मुझ में लीन करके, मेरे आश्रित होकर, योग का सतत अभ्यास करते हुए, संशय रहित होकर मेरे समग्र रूप को जान पाओगे, उसे सुनो।

2. अब मैं तुम्हारे लिए विशेष रूप से ज्ञान और विज्ञान के बारे में कहूँगा, जिसको जान लेने के पश्चात् फिर इस विषय में कुछ भी जानना शेष नहीं रह जायेगा।

3. हजारों मनुष्यों में कोई एक ही योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और उन प्रयत्न करने वाले सिद्ध योगिओं में भी कोई एक ही मुझे वास्तव में जान पाता है।

4. पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि, जल - (पंच महाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहंकार - यह आठ प्रकार की मेरी विभिन्न अपरा या जड़ प्रकृतियाँ अर्थात भौतिक शक्तियां हैं - जोकि सदैव परिवर्तनशील हैं।

5. हे महाबाहो अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य श्रेष्ठ आध्यात्मिक परा शक्ति को जानो जिसके द्वारा मैंने यह जगत धारण किया हुआ है। मेरी इस चेतन और अपरिवर्तनशील शक्ति को अविनाशी आत्मा या अक्षर पुरुष भी कहा जाता है।

6. तुम ऐसा समझो की सम्पूर्ण प्राणियों का उद्गम इन दोनों शक्तिओं अर्थात प्रकृति (अपरा) और पुरुष (परा) के संयोग से ही है तथा मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और संहार का कारण हूँ।

7. हे धनंजय! मैं ही इस जगत का परम सत्य हूँ और मुझसे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सारे मोती एक सूत के धागे में पिरोये रहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत के प्राणी मुझमें ही गुंथे हुए हैं; अर्थात मोती रूप अपरा प्रकृति भी मेरा स्वरूप है और धागा रूप परा प्रकृति भी मैं ही हूँ क्योंकि दोनों में मैं ही व्याप्त हूँ।

8. हे कुन्तीनन्दन! जल में रस अर्थात स्वाद मैं हूँ; सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश मैं हूँ; सम्पूर्ण वेदों में ओंकार मैं हूँ; आकाश में शब्द और मनुष्यों में पुरुषार्थ भी मैं ही हूँ।

9. इस पृथ्वी की पवित्र सुगंध मैं हूँ; अग्नि का तेज मैं हूँ; सम्पूर्ण प्राणियों की जीवन-शक्ति मैं हूँ और सभी तपस्वियों का तप भी मैं ही हूँ।

10. हे पार्थ! सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज मुझे ही जानो। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्विओं का तेज भी मैं ही हूँ।

11. हे भारत श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल मैं हूँ। मनुष्यों में धर्म की मर्यादा के अनुसार संतान की उत्पत्ति का साधन (काम) भी मैं ही हूँ।

12. जितने भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं - इन्हें तुम मुझसे ही उत्पन्न जानो अर्थात यह तीनों प्रकार के गुण मेरी शक्ति द्वारा ही प्रकट होते हैं। अतः वे गुण मुझ पर ही निर्भर करते हैं अर्थात मेरे अधीन हैं; परन्तु मैं उन पर आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं हूँ।

13. परन्तु यह सम्पूर्ण जगत प्रकृति के इन तीनों गुणों या भावों से मोहित व भ्रमित रहता है; अतः इसी कारण मनुष्य इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता।

14. क्योंकि मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार कर पाना बड़ा ही कठिन या दुष्कर अर्थात असंभव सा कार्य है, परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आ जाते हैं वे इस दैवी माया को सरलता से पार कर जाते हैं।

15. दुष्कर्म करने वाले दुष्ट लोग, मूर्ख, आसुरी स्वभाव वाले, महानीच मनुष्य तथा माया के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है; ऐसे लोग कभी मेरी शरण में नहीं आते।

16. हे भारत श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग या पवित्र कर्म करने वाले लोग मेरा भजन करते हैं - दुःख से पीड़ित, धनलाभ या किसी इष्टफल की कामना करने वाले, भगवान को जानने की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु और ज्ञानीजन।

17. उन चार भक्तों में भी नित्य-निरन्तर मेरी अनन्य-भक्ति में रत बुद्धिमान और विवेकशील ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं क्योंकि मुझ परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी भक्तों को मैं अत्यंत प्रिय हूँ और वह निष्काम ज्ञानी भक्त भी मुझे अत्यधिक प्रिय है।

18. वैसे तो उपरोक्त सभी भक्त बहुत ही उदार अर्थात श्रेष्ठ भाव वाले हैं, परन्तु ज्ञानी-भक्त तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है - ऐसा मेरा मानना है; क्योंकि स्थिर-बुद्धि वाला ज्ञानी-भक्त मुझसे अभिन्न है तथा दृढ़ता से मुझमें स्थित है और यही सर्वश्रेष्ठ गति है।

19. अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद जो ज्ञानवान मनुष्य यह समझकर मेरी शरण में आ जाता है कि इस संसार में सब कुछ भगवान वासुदेव ही हैं - ऐसा महात्मा मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

20. भोगों की कामना के कारण जिनका ज्ञान हरा जा चुका है और बुद्धि मारी जा चुकी है ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव या प्रकृति से नियंत्रित होकर नियमपूर्वक विधि-विधानों का पालन करते हुए अन्य देवताओं की शरण में चले जाते हैं।

21. मैं प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के स्वरूप में स्थित हूँ। जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता की श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है; मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी ईष्ट देवता में ही स्थिर कर देता हूँ।

22. फिर वह मनुष्य दृढ़-श्रद्धा से युक्त होकर अपने ईष्टदेव की सकाम आराधना करता है और निस्संदेह उसकी कामनायें पूरी भी हो जाती हैं। वास्तव में उन सभी इच्छाओं की पूर्ति मेरे द्वारा ही की जाती है।

23. परन्तु उन अल्प-बुद्धि वाले मनुष्यों को देवताओं की सकाम पूजा का जो फल मिलता है और वह नाशवान होता है। देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जाते हैं; किन्तु मेरे भक्त अन्ततः मेरे परम धाम में आकर मुझे ही प्राप्त होते हैं।

24. बुद्धिहीन मनुष्य मेरे निराकार स्वरूप को मनुष्य की तरह शरीर धारण करने वाला मानते हैं। वे अपने अल्पज्ञान के कारण मेरे मन व इन्द्रियों से परे परम अविनाशी सर्वश्रेष्ठ रूप को नहीं जान पाते।

25. जो मूर्ख मनुष्य यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा और अविनाशी परमब्रह्म परमात्मा हूँ; उन सबके सामने मैं कभी भी प्रकट नहीं होता और अपनी योगमाया अर्थात अन्तरंगा (आंतरिक या व्यक्तिगत) शक्ति द्वारा आच्छादित ही रहता हूँ।

26. हे अर्जुन! मैं उन सभी प्राणियों को जानता हूँ जो भूतकाल में हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे। लेकिन श्रद्धा व

भक्ति से युक्त भक्त के सिवाय कोई भी मनुष्य मुझे नहीं जान पाता।

27. हे शत्रुओं का दमन करने वाले भारत! इसका कारण यह है कि संसार के सभी प्राणी इच्छा व द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुख) द्वन्द्व रुपी अज्ञान से भ्रमित होकर मोहग्रस्त हो रहे हैं।

28. किन्तु पुण्य कर्म करने वाले जिन मनुष्यों के पाप पूर्णतया विनष्ट हो चुके हैं; वे राग-द्वेषादि द्वन्द्व अर्थात दुविधा के भ्रम से मुक्त होकर दृढ़ निश्चय से मेरा भजन करते हैं।

29. जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वही उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को व समस्त कर्मों को जान जाते हैं।

30. जो मनुष्य मुझमें ध्यान लगाकर यह जान जाते हैं कि अधिभूत (तमोगुण प्रधान अनन्त ब्रह्माण्ड या भौतिक सृष्टि का विनाश करने वाले शिवजी); अधिदैव (रजोगुण प्रधान सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा जी) और अधियज्ञ (सतोगुण प्रधान सृष्टि का पालन करने वाले अन्तर्यामी भगवान श्री विष्णु जी) - सब मेरे परम तत्त्व के ही रूप हैं - तो वो अन्तकाल में मुझे ही प्राप्त होते हैं।

अध्याय 8

अक्षरब्रह्म योग अथवा भगवदप्राप्ति

भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को बताते हैं कि मृत्यु के समय जिस मनुष्य का जैसा भाव होता है, उसको वैसी ही गति मिल जाती है; इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव मेरा ही स्मरण करता रहे। जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जो मनुष्य अभ्यासपूर्वक एकाग्रचित्त से परमपुरुष का सतत चिंतन करता है, वह निश्चय ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। मृत्यु के बाद ब्रह्मलोक तक जाने वाले योगी लौट कर धरती पर वापिस आते हैं, परन्तु मेरे सनातनधाम तक पहुँचने वाले योगिओं को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। इस सृष्टि पर सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन की अवधि ब्रह्मा जी के एक दिन के बराबर है, जोकि पृथ्वी के एक हज़ार चतुर्युगी के वर्षों के बराबर होता है, और उतनी ही अवधि की ब्रह्मा जी की रात होती है। वैदिक ज्ञान के अनुसारः-

कलयुग की आयु	=	432000 वर्ष
द्वापरयुग की आयु	=	864000 वर्ष
त्रेतायुग की आयु	=	1296000 वर्ष
सतयुग की आयु	=	1728000 वर्ष
एक चर्तुयुगी	=	4320000 वर्ष

1000 चर्तुयुगी = 4320000 × 1000

ब्रह्मा जी की एक दिन की अवधि = 4अरब 32 करोड़ वर्ष

ब्रह्मा जी का दिन शुरू होने पर प्राणिमात्र का प्रभव होता है और रात्रि होने पर सभी प्राणियों का प्रलय हो जाता है। ब्रह्मा जी का जीवन काल सौ वर्ष का होता है, जो कि पृथ्वी के लगभग 31 शंख, 10 खरब और 40 अरब वर्ष का होता है। तब भगवान सम्पूर्ण सृष्टि को नष्ट करके नई सृष्टि का सृजन करते हैं। इसी क्रम से यह सृष्टिचक्र अनादि काल से चलता आ रहा है। वेदों के अनुसार समय की अत्यन्त सूक्ष्म इकाई को परमाणु माना गया है।

1 परमाणु	≈	25 माईक्रो सैकन्ड		
2 परमाणु	=	1 अणु		
3 अणु	=	त्रसारेणु		
3 त्रसारेणु	=	1 त्रुटि		
100 त्रुटि	=	1 वेध		
3 वेध	=	1 लव		
3 लव	=	1 निमेष		
3 निमेष	=	1 क्षण	=	1.22 सैकन्ड

श्रीकृष्ण जी मानव मात्र को यही संदेश देना चाहते हैं कि वे सृष्टि के पहले भी थे, मध्य में भी हैं और सृष्टि के प्रलय के बाद भी रहेंगे। वे प्रत्येक युग और प्रत्येक क्षण में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

1. **अर्जुन ने कहा** - हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत अर्थात भौतिक जगत किसको कहा गया है? तथा अधिदैव अर्थात देवतागण किनको कहा जाता है?

2. **हे मधुसूदन**! यहाँ अधियज्ञ अर्थात यज्ञ का स्वामी कौन है और वह इस शरीर में कैसे रहता है? और मृत्यु के समय आत्म-संयमी मनुष्य आपको कैसे जान पाते हैं?

3. **श्री भगवान बोले** - परम अविनाशी दिव्य-जीव ब्रह्म है और आत्मा के नित्य-स्वभाव या प्रवृत्ति की जो विद्या है, उसे अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों को उत्पन्न करने वाली ब्रह्मा जी की सृजन की क्रियाशक्ति को कर्म कहते हैं।

4. **हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन**! यह नाशवान भौतिक जगत अधिभूत है; आदिपुरुष ब्रह्मा जी अधिदेव हैं - (क्योंकि महासर्ग के आदि में भगवान के संकल्प से हिरण्य गर्भ में सबसे पहले ब्रह्मा जी प्रकट होते हैं और फिर सृष्टि की रचना करते हैं) - और इस देह में परमात्मा स्वरूप स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही यज्ञ का स्वामी अधियज्ञ हूँ।

5. जो मनुष्य अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

6. हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य मरते समय जिस-जिस भाव का भी स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस भाव के चिन्तन के कारण निश्चित ही उसी भाव को अर्थात उसी मनोदशा को ही प्राप्त होता है, अतः वह उसी प्रकार की योनि में चला जाता है।

7. इसलिए तुम सतत मेरा ही स्मरण करते हुए युद्धरुपी कर्त्तव्य-कर्म भी करते जाओ। इस तरह मन और बुद्धि को मुझमें स्थिर व समर्पित करके तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे।

8. हे पार्थ! जो मनुष्य अभ्यासपूर्वक एकाग्रचित्त से परम दिव्य-पुरुष का निरन्तर चिंतन करता है, वह निश्चय ही उसी परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।

9-10. जो मनुष्य कवि अर्थात सर्वज्ञ, अनादि, सब पर शासन करने वाले अर्थात नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी प्राणियों का पालन पोषण करने वाले, अज्ञानता से अत्यन्त परे, सूर्य की तरह प्रकाशवान, अलौकिक-स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता है; ऐसा भक्त-मनुष्य अचल मन से और योगशक्ति के द्वारा प्राणों को भृकुटि के मध्य में अच्छी तरह से स्थापित करके अन्त समय में शरीर छोड़ने पर परमपिता परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

11. वेदों के ज्ञाता जिसे अविनाशी कहते हैं; बड़े-बड़े मुनि या सन्यासी जिसको प्राप्त करते हैं; और जिस परम-पद की प्राप्ति की इच्छा करते हुए साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं; उसी परम-पद को पाने की विधि मैं तुम्हारे लिए संक्षेप में कहूँगा।

12-13. जो मनुष्य इन्द्रियों के सभी द्वारों को बंद करके अर्थात इन्द्रियों को सब विषयों से हटाकर, मन को हृदय में रोककर, और अपने प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग की स्थिति को धारण कर लेता है; वह साधक परब्रह्म के इस एक अक्षर ओंकार का उच्चारण करता हुआ अर्थात मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर जाता है, वह निश्चय ही परमगति को प्राप्त होता है।

14. हे पार्थ! जो मनुष्य अनन्यभाव से सदैव मेरा स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर योगी को मैं सुलभता से अर्थात सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

15. मुझे प्राप्त करने के बाद महात्मा लोग कभी भी दुखों के इस घर अर्थात अनित्य व नाशवान जगत में पुनर्जन्म नहीं लेते क्योंकि वे परमसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं।

16. हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्ति वाले हैं अर्थात वहाँ से सुख भोगकर मनुष्य को पुनः वापिस लौटकर संसार में आना पड़ता है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मनुष्य मेरे परमधाम पहुँच जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

17. जो लोग यह जानते हैं कि ब्रह्मा जी के एक दिन की अवधि मृत्यु लोक के एक हज़ार चतुर्युग के बराबर है और उनकी एक रात की अवधि भी एक हज़ार चतुर्युगी है, ऐसे योगी पुरुष ही काल के वास्तविक तत्त्वज्ञाता हैं।

18. ब्रह्मा जी के दिन के आरम्भ में सारे प्राणी अव्यक्त अवस्था में अर्थात ब्रह्मा जी के सूक्ष्म शरीर से प्रकट होते हैं और फिर ब्रह्मा जी की रात प्रारम्भ होते ही सारे जीव अव्यक्त ब्रह्मा में ही लीन हो जाते हैं।

19. हे पार्थ! वही जीव समुदाय प्रकृति के वशीभूत होकर बारम्बार जन्म लेकर ब्रह्मा जी के दिन के समय उत्पन्न होता है और ब्रह्मा जी की रात्रि के समय स्वतः विलीन हो जाता है!

20. परन्तु इस क्षर अर्थात नाशवान व्यक्त-अव्यक्त प्रकृति के अतिरिक्त और परे एक अन्य विलक्षण अव्यक्त प्रकृति भी है जो शाश्वत व अत्यंत श्रेष्ठ है, वह सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती।

21. मेरी उसी प्रकृति को अप्रकट, अप्रत्यक्ष और अविनाशी कहा गया है तथा उसी को परमगति भी कहा जाता है और वही मेरा परमधाम है; जिसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य कभी लौटकर इस संसार में वापिस नहीं आता।

22. हे पार्थ! जिस परमात्मा के अंतर्गत सम्पूर्ण प्राणी आते हैं और जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है अर्थात सर्वव्यापक है, वह परम-पुरुष परमात्मा तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है।

23. हे भारत श्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें उन दोनों मार्गों के बारे में बताऊँगा, जिन पर इस संसार से प्रयाण करने के बाद योगी पीछे लौट कर आते हैं अर्थात पुनर्जन्म लेते हैं अथवा नहीं आते अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

24. जो ब्रह्मज्ञानी लोग उस मार्ग से शरीर छोड़कर जाते हैं जिस मार्ग में प्रकाश-स्वरूप अग्नि के, दिन के, शुक्लपक्ष के और सूर्य के उत्तरायण के छह महीनों के अधिकारी देवता होते हैं जो आत्मा की अगली यात्रा की व्यवस्था करते हैं, तब वे ब्रह्मपथ या देवपथ पर जाने वाले ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त होते हैं और पुनः संसार में वापिस नहीं आते।

25. जो सकाम योगी उस मार्ग से शरीर छोड़ कर जाते हैं, जिस मार्ग में अंधकार के, रात्रि के, कृष्ण पक्ष के और सूर्य के दक्षिणायन के छह महीनों के अधिकारी देवता निवास करते हैं, जो आत्मा की अगली यात्रा की व्यवस्था करते हैं, तब वे कर्मयोगी चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त कर स्वर्गादि दिव्यलोकों के सुख भोगकर पुनः पृथ्वीलोक पर लौट आते हैं।

26. वैदिक ज्ञान के अनुसार इस संसार से प्रयाण करने के दो ही शाश्वत मार्ग या सनातन गतियां हैं - एक प्रकाश का या ज्ञान

मार्ग - जिसपर जाने वाले को लौटना नहीं पड़ता अर्थात मोक्ष प्राप्त हो जाता है; और दूसरा अंधकार का या अज्ञान मार्ग - जिसपर जाने वाले को पुनः लौटना पड़ता है अर्थात पुनर्जन्म लेकर जन्म-मरण के चक्र में फंसना पड़ता है।

27. हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानने वाला कोई भी योगी कभी भी भ्रमित नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तुम सदैव स्थिरता से समभाव अर्थात समता योग में ही स्थित हो जाओ।

28. सिद्ध योगी इस मर्म रहस्य को जानकर वेदों में, यज्ञों में, तपस्या में तथा दान में जो-जो भी पुण्य फल कहे गए हैं, उन सबको लाँघ जाता है और परब्रह्म परमात्मा के परमधाम को प्राप्त होता है।

अध्याय 9

परमगुह्यज्ञान अथवा राजविद्याराजगुह्य योग

भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपना अलौकिक परम रहस्य और वास्तविक स्वरूप बताते हैं। वो कहते हैं कि सारी प्रकृति उन्हीं की अध्यक्षता में कार्यरत है और वह स्वयं इस सृष्टि के परम नियंता हैं। सम्पूर्ण जगत का वे ही सृजन करते हैं और कल्प क्षय के समय समस्त प्राणी उन्हीं में समा जाते हैं। "मैं केवल अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा ही सृष्टि का कारण स्वरूप हूँ। मैं ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पिता, माता, आश्रयदाता, पितामह, पालनकर्ता, सबका स्वामी, परममित्र, सबका आधार तथा पवित्र ओंकार भी मैं ही हूँ। संसार के समस्त जीव मुझमें स्थित हैं अर्थात मुझ पर ही आश्रित हैं। मूढ़ व्यक्ति मुझे साधारण मनुष्य मानते हैं, जबकि सिद्ध पुरुष मुझे चराचर सृष्टि का सर्वेसर्वा मानते हैं।" भगवान स्पष्ट करते हैं कि अनन्य भक्ति द्वारा कोई भी मनुष्य उन्हें प्राप्त कर सकता है, चाहे वह कितना बड़ा पापी और दुराचारी ही क्यों न हो। भगवान कहते हैं कि अगर कोई मनुष्य मुझे प्रेम और श्रद्धा के साथ जल, फल, फूल और पत्ते भी भेंट करता है, तो मैं वो भी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेता हूँ।

1. **श्री भगवान बोले** - हे अर्जुन! चूँकि तुम दोषदृष्टि से रहित मेरे भक्त हो और तुम मुझसे कदापि ईर्ष्या नहीं करते, इसलिए मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान विज्ञान सहित पुनः अच्छी तरह से

समझाऊँगा, जिसको जानकर तुम जन्म-मरण के कष्टदायक चक्र से मुक्त हो जाओगे।

2. यह ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा, सर्वाधिक रहस्यमय, अत्यन्त पवित्र, अति श्रेष्ठ, प्रत्यक्ष फलदायी, धर्ममय, अविनाशी और करने में बहुत ही सुगम है।

3. हे शत्रुओं के दमनकर्त्ता अर्जुन! जो मनुष्य धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वह मृत्युरुपी संसार के जन्म-मरण के चक्र में लौटते रहते हैं।

4. यह सम्पूर्ण जगत मेरे निराकार स्वरूप से व्याप्त है। संसार के समस्त जीव मुझमें स्थित हैं अर्थात मुझ पर आश्रित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ अर्थात उनपर आश्रित नहीं हूँ।

5. हे अर्जुन! वे प्राणी मेरे साकार रूप में मुझमें स्थित नहीं हैं। मेरे इस योग-ऐश्वर्य को तो देखो। यद्यपि मैं सर्वव्यापक परमात्मा समस्त जीवों का उत्पन्न करने वाला और पालन पोषण करने वाला हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मेरी अलौकिक शक्ति पर टिके हैं, किन्तु भगवान के रूप में मैं उनसे पृथक रहता हूँ, क्योंकि मैं केवल अपनी संकल्पशक्ति द्वारा ही सृष्टि का कारण स्वरूप हूँ।

6. जैसे सर्वत्र बहने वाली महान वायु निरन्तर आकाश में स्थित रहती है, इसी तरह संसार के समस्त जीव मुझमें ही स्थित रहते हैं, तुम ऐसा समझ लो।

7. हे कुन्तीपुत्र! कल्पों के अन्त में अर्थात महाप्रलय के समय समस्त प्राणी मेरी प्रकृति में समाहित हो जाते हैं और कल्पों के

प्रारम्भ में अर्थात महासर्ग के समय मैं पुनः उनका सृजन करता हूँ।

8. मैं अपनी प्रकृति को वश में करके प्रकृति के वशीभूत हुए सभी प्राणियों की बार-बार रचना करता हूँ और बार-बार ही उनका सँहार करता रहता हूँ।

9. हे धनंजय अर्थात धन के विजेता अर्जुन! सृष्टि की रचना आदि कर्मों से मैं सदैव आसक्तिहीन और तटस्थ रहता हूँ; इसलिए यह सारे कर्म मुझे नहीं बाँध पाते हैं।

10. हे कुन्तीपुत्र! मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत की रचना करती है। इस प्रकार से सृष्टि का यह परिवर्तनशील चक्र क्रियावान रहता है।

11. मूर्ख लोग मेरे परम-परमेश्वर व सर्वश्रेष्ठ दिव्य-स्वभाव को न जानते हुए मुझे साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना, अवज्ञा, अनादर व उपहास करते हैं।

12. जो अविवेकी मनुष्य सदैव आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेते हैं; ऐसे मोहग्रस्त लोगों की सभी आशायें, शुभ कर्म व ज्ञान निष्फल अर्थात व्यर्थ हो जाते हैं।

13. लेकिन हे पार्थ! दैवी-स्वभाव वाले महात्मा लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का आदि स्रोत और अविनाशी जानकर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं।

14. यह महात्मा लोग मेरा सतत कीर्तन करते हुए, दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, प्रेमपूर्वक और भक्तिभाव से नित्य-निरंतर मेरी ही उपासना करते रहते हैं।

15. कुछ साधक मुझे निराकार ब्रह्म मानकर ज्ञान-यज्ञ के द्वारा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। कई अद्वैतभाव से अर्थात भगवान-भक्त के एकीभाव से; दूसरे द्वैतभाव से अर्थात भगवान और भक्त को पृथक मानकर पूजा करते हैं; जबकि बहुत से ऐसे भी हैं जो मेरे विराट विश्वरूप की नाना प्रकार से उपासना करते हैं।

16. धार्मिक अनुष्ठान मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, पितरों को दिया जाने वाला अन्नादि तर्पण मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घी मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवन-रुपी क्रिया अर्थात आहुति भी मैं ही हूँ।

17. मैं ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पिता, माता, आश्रयदाता और पितामह भी हूँ। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में जानने योग्य पवित्र ओंकार भी मैं ही हूँ।

18. मैं ही सब जीवों का परमधाम, पालनकर्त्ता, सबका स्वामी, शुभ-अशुभ का द्रष्टा, निवास-स्थान, आश्रय, परममित्र, सबकी उत्त्पत्ति और प्रलय करने वाला, सबका आधार, विश्राम-स्थल तथा अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।

19. हे अर्जुन! संसार के हित के लिए मैं ही सूर्यरूप बनकर ताप प्रदान करता हूँ; बादल बनकर जल को ग्रहण करके वर्षा को लाता और थामता हूँ; मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ तथा सत और असत भी मैं ही हूँ।

20. जो पाप-रहित मनुष्य तीनों वेदों का अध्ययन करके सकाम कर्म करते हैं, सोमरस का पान करते हैं और यज्ञों के द्वारा मेरा पूजन

करके स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं, वे अपने पुण्यों के कारण इन्द्रलोक को प्राप्त करके स्वर्ग में देवताओं जैसे दिव्य-भोगों को भोगते हैं।

21. वे सकाम कर्मयोगी उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे गए सकाम कर्मों को करके इन्द्रिय-सुख चाहने वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं।

22. जो अनन्य भक्त मेरा चिंतन करते हुए, मेरी भली-भाँति उपासना करते हैं, मुझमें निरंतर लगे हुए उन भक्तों का योगक्षेम अर्थात अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा मैं स्वयं वहन करता हूँ।

23. हे कुन्तीपुत्र! जो भी भक्त श्रद्धापूर्वक दूसरे देवी-देवताओं को पूजते हैं, वे भी अप्रत्यक्ष रूप से मेरा ही पूजन करते हैं, किन्तु वास्तव में यह पूजा विधि-विहीन अथवा त्रुटिपूर्ण है।

24. क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का एकमात्र भोक्ता और स्वामी हूँ; परन्तु वे मनुष्य मुझे तत्त्व से नहीं जानते अर्थात मेरे वास्तविक दिव्य स्वभाव को नहीं जान पाते, इसलिए उनका पतन होकर अधोगति हो जाती है अर्थात पुनः आवागमन के चक्र में पड़ जाते हैं।

25. सकाम भाव से देवताओं का पूजन करने वाले लोग देवलोक को जाते हैं, पितरों को पूजने वाले लोग पितृलोक को जाते हैं, भूत-प्रेतों को पूजने वाले लोग भूत-प्रेतों के लोक को जाते हैं तथा मेरा पूजन करने वाले लोग मेरे परमधाम ही आते हैं और फिर कभी उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

26. यदि कोई भक्त प्रेम और भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल भी अर्पण करता है तो मैं उस शुद्ध चित्त वाले भक्त द्वारा प्रेमपूर्वक दिया हुआ उपहार खा लेता हूँ अर्थात स्वीकार कर लेता हूँ।

27. अतः हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ भी भोजन करते हो, जो यज्ञ-हवन करते हो, जो दान देते हो, तप करते हो, वह सब कुछ मुझे ही अर्पण करते जाओ।

28. ऐसे तुम सम्पूर्ण कर्मों के बंधन तथा उनके शुभ-अशुभ कर्मफलों से मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार सन्यासयोग युक्त होकर और सकाम कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे।

29. सम्पूर्ण प्राणी मेरे लिए समान हैं - न तो कोई मेरा अप्रिय अर्थात शत्रु है और न ही कोई प्रिय अर्थात मित्र। न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न ही पक्षपात करता हूँ। परन्तु फिर भी जो भक्त प्रेम और श्रद्धा से मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनके अन्तःकरण में निवास करता हूँ।

30. यदि कोई बड़े से बड़ा दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन प्रारम्भ करता है तो उसे भी साधु ही मानना चाहिए; क्योंकि उसने पूर्णतया सही निश्चय अर्थात अडिग संकल्प कर लिया है।

31. वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है तथा शाश्वत शांति को प्राप्त कर लेता है। हे कुन्तीपुत्र! तुम यह निश्चयपूर्वक सत्य मान लो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश या पतन नहीं होता।

32. हे पार्थ! जो लोग भी प्रेमपूर्वक व भक्ति-भाव से मेरी शरण में

आते हैं। वह सभी निस्संदेह परमगति को प्राप्त करते हैं; भले ही वे पापयोनि वाले असुर हों, राक्षस हों, स्त्रियां हों, वैश्य अथवा शूद्र कोई भी क्यों न हों।

33. फिर धर्मात्मा, ब्राह्मण, राजऋषि और भगवान के अनन्य भक्तों की तो बात ही क्या है! अर्थात वे तो शीघ्र ही परमगति को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए इस क्षणभंगुर अर्थात नाशवान शरीर को पाकर इस सुखरहित अर्थात दुखमय संसार में तुम केवल मेरा ही भजन करो।

34. इसलिए तुम केवल मेरे ही भक्त बनो, मुझमें ही मन लगाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मुझे ही अपना परम-लक्ष्य मानते हुए मेरे ही परायण हो जाओ, तब तुम निश्चित ही मुझे प्राप्त हो कर लोगे।

अध्याय 10
विभूति योग अथवा श्री भगवान का ऐश्वर्य

श्री भगवान अर्जुन को बताते हैं की बड़े-बड़े देवता, ऋषि-महर्षि, महान मुनि भी मेरा उद्गम नहीं जान पाते। पहले चार सनकादि महर्षि, सप्तऋषि व चौदह मनुगण मेरे मन, भाव और संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं जिनकी प्रजा यह सारा संसार है। जो भी विद्वान मनुष्य प्रेम और श्रद्धा से सतत मेरी ही भक्ति में लीन रहते हैं, मैं उनको बुद्धियोग दे देता हूँ जिससे वह मुझे प्राप्त कर सकते हैं। अर्जुन भगवान श्री कृष्ण जी को अविनाशी परमेश्वर स्वीकार कर लेता है और जानना चाहता है की भगवान किन-किन ऐश्वर्यों और विभूतियों से इस जगत में व्याप्त हैं। भगवान अर्जुन को स्पष्ट करते हैं की इस जगत में जो भी सर्वश्रेष्ठ है, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सब उनके ही विस्तार और प्रतिरूप हैं। श्री भगवान घोषणा करते हैं - "सेनापतिओं में सेनानायक स्कन्द अर्थात कार्तिकेय हूँ और सभी जलाशयों में समुद्र हूँ। पापियों को धर्म और न्याय के अनुसार दंड देने वाला नियमपालक यमराज भी मैं ही हूँ। सभी शस्त्रधारियों में मैं साक्षात भगवान राम हूँ। मैं ही सब की उत्पत्ति का मूल कारण हूँ। अपने अनन्य भक्तों को मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।"

1. **श्री भगवान बोले** - हे बलिष्ठ भुजाओं वाले अर्जुन! मेरे परम वचन को तुम फिर से सुनो, जो तुमको मैं अपना प्रिय मानकर तुम्हारे कल्याण की कामना के लिए कहता हूँ।

2. मेरे प्रकट होने के बारे में न तो देवता जानते हैं और न ही महर्षि; क्योंकि उन सब प्रकार के देवताओं और महाऋषिओं का भी आदि-कारण अर्थात उद्गम मैं ही हूँ।

3. जो मनुष्य संदेह-रहित होकर, दृढ़ता से मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर स्वीकार कर लेता है, वह ज्ञानवान मनुष्य समस्त पापकर्मों से मुक्त हो जाता है।

4-5. बुद्धि, ज्ञान, संशय अर्थात भ्रम या मोह का अभाव, क्षमा, सत्य, दम अर्थात इन्द्रियों पर नियंत्रण, शम अर्थात मन पर नियंत्रण, सुख और दुःख, उत्पत्ति और विनाश, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अपयश आदि प्राणियों के यह विविध प्रकार के बीस गुण या भाव मेरे द्वारा ही उत्पन्न होते हैं।

6. चार सनकादि, सात महर्षि तथा चौदह मनु (मानव जाति के पूर्वज) मेरे मन से अर्थात केवल संकल्पमात्र से उत्पन्न हुए हैं जिनका मुझमें श्रद्धाभाव है; और यह सारा संसार उन्ही की प्रजा है।

7. जो मनुष्य मेरी इस परम ऐश्वर्यमयी विभूति व योगशक्ति को तत्त्व से जानता है अर्थात दृढ़तापूर्वक विश्वास कर लेता है वह निस्संदेह अडिग होकर भक्तियोग के मार्ग पर चल देता है।

8. मैं ही सब की उत्पत्ति का मूल कारण हूँ और मेरे कारण ही संसार की सारी चेष्टाएँ अर्थात क्रियाकलाप हो रहे हैं। ऐसा मानकर बुद्धिमान भक्तजन श्रद्धा और प्रेम सहित सदैव मेरा ही भजन करते हैं।

9. अनवरत मुझ में ही मन लगाने वाले और मेरे लिए ही अपने प्राण अर्पण करने वाले भक्तजन आपस में मेरे प्रभाव और गुणों की नित्य-निरंतर चर्चा करते हुए सदैव संतुष्ट रहते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं।

10. उन नित्य-निरंतर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।

11. उन भक्तों पर विशेष कृपा करने के उद्देश्य से ही मैं स्वयं ही उनके अन्तःकरण में स्थित हो जाता हूँ और अज्ञान के कारण पैदा हुए अंधकार को ज्ञान के प्रकाशमान दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

12. अर्जुन ने कहा - आप ही परम-परमात्मा, परमधाम और परम-पवित्र हैं। आप ही शाश्वत, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं।

13. आप के बारे में ऐसा सब के सब ऋषि, देवऋषि, नारद, असित, देवल तथा महर्षि वेदव्यास भी कहते हैं और अब आप स्वयं भी प्रकट रूप से इस सत्य की पुष्टि कर रहे हैं।

14. हे केशव! आप जो कुछ भी मुझसे कह रहे हैं, मैं यह सब सत्य ही मानता हूँ। हे भगवान! आपके वास्तविक स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न ही दानव।

15. हे सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाले! हे समस्त जीवों के

ईश्वर! हे देवों के देव! हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! वास्तव में केवल आप स्वयं ही अपने-आप को जानते हैं।

16. इसलिए कृपा करके आप अपनी दिव्य या अलौकिक विभूतियों का सम्पूर्णता से वर्णन करें, जिन विलक्षण विभूतियों से या ऐश्वर्यों से आप समस्त लोकों में व्याप्त होकर स्थित हैं; क्योंकि ऐसा करने में केवल आप ही समर्थ, सक्षम व योग्य हैं।

17. हे योगेश्वर! मैं किस तरह आपका निरंतर चिंतन करते हुए आपको जानूँ? हे भगवन! आपका चिंतन या स्मरण किन किन भावों या रूपों में करूँ?

18. हे जनार्दन! आप अपनी दैवी योगशक्ति और अलौकिक विभूतियों अर्थात विलक्षण ऐश्वर्यों को फिर से बताएँ, क्योंकि बारम्बार आपके अमृतमय वचन सुनकर भी मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।

19. श्री भगवान ने कहा - हाँ कुरुश्रेष्ठ! मैं तुम्हारे लिए अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य-विभूतियों को संक्षेप में फिर से कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का तो कोई अंत ही नहीं है।

20. हे गुडाकेश अर्थात नींद को जीतने वाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं ही हूँ और समस्त जीवों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ।

21. मैं बारह आदित्यों में विष्णु और ज्योतिर्पुंजों में प्रकाशमान किरणों वाला तेजस्वी सूर्य हूँ। मैं मरुतों में अर्थात वायु के देवताओं में तेज मरीचि और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ।

22. मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में स्वर्ग का राजा इंद्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों की चेतना अर्थात जीवनशक्ति या प्राण हूँ।

23. मैं ग्यारह रुद्रों में शिव-शंकर और यक्ष व राक्षसों में कोषाध्यक्ष धनपति कुबेर हूँ। आठ वसुओं में मैं अग्नि और समस्त पर्वतों में मैं ही सुमेरु पर्वत हूँ।

24. हे पार्थ! सभी पुरोहितों में मुझको तुम प्रमुख देव-पुरोहित बृहस्पति जानो। मैं समस्त सेनापतिओं में सेनानायक स्कन्द अर्थात कार्तिकेय हूँ और सभी जलाशयों में समुद्र हूँ मैं।

25. मैं महाऋषिओं में भृगु हूँ और वाणी के दिव्य-शब्दों में एक अक्षर ओंकार अर्थात प्रणव हूँ। मैं सम्पूर्ण यज्ञों में जपयज्ञ हूँ और स्थिर रहने वाले जड़ पदार्थों में अचल हिमालय पर्वत भी मैं ही हूँ।

26. मैं सभी प्रकार के वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात पीपल हूँ और देवऋषिओं में नारद हूँ। मैं गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और मैं ही सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि हूँ।

27. अश्वों में मुझे समुद्रमन्थन के समय अमृत के साथ प्रकट होने वाला उच्चैःश्रवा घोड़ा और हाथियों में सर्वश्रेष्ठ हाथी ऐरावत जानो। सम्पूर्ण मनुष्यों में तुम मुझे धर्म का प्रतिनिधि राजा मानो।

28. सभी प्रकार के शस्त्रों में वज्र मैं हूँ; गायों में कामधेनु अर्थात समुद्रमन्थन के समय प्रकट हुई सुरभि गाय भी मैं हूँ; सन्तान की उत्त्पत्ति के लिए प्रेम का देवता कामदेव भी मैं ही हूँ; सागर के

सर्पों का अधिपति वासुकि (समुद्रमन्थन के समय जिनकी मंथन-डोरी बनाई गई थी) भी मैं हूँ।

29. सम्पूर्ण नागों का राजा अनन्त अर्थात शेषनाग मैं हूँ; समस्त जलचरों का अधिपति वरुण मैं हूँ; पितरों का अधिपति अर्यमा मैं हूँ; दृढ़ता से शासन करने वाला अर्थात पापियों को धर्म और न्याय के अनुसार दंड देने वाला नियमपालक यमराज भी मैं ही हूँ।

30. दैत्यों में भक्तराज प्रह्लाद मैं हूँ और गणना करने वाले ज्योतिषियों में दमनकारी काल मैं हूँ। समस्त पशुओं में मैं ही मृगेंद्र अर्थात सिंह हूँ और पक्षियों में उनका अधिपति गरुड़ भी मैं हूँ।

31. समस्त पवित्र करने वाली वस्तुओं में मैं वायु हूँ और संसार के सभी शस्त्रधारियों में मैं साक्षात भगवान राम हूँ। समस्त जलचरों में मैं मगर हूँ और सभी नदियों में सर्वश्रेष्ठ पवित्र नदी गंगा भी मैं ही हूँ।

32. हे अर्जुन! मैं ही सम्पूर्ण सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। समस्त विद्याओं में मैं अध्यात्म-विद्या अर्थात ब्रह्म-विद्या हूँ; परस्पर शास्त्रार्थ या वाद-विवाद करने वालों का वाद अर्थात तर्क भी मैं ही हूँ।

33. वर्णमाला के अक्षरों में सर्वप्रथम अक्षर अ-कार हूँ मैं और दो शब्दों के जोड़ने वाला द्वंद्व समास भी मैं ही हूँ। अनादि, अनंत, शाश्वत और महाकाल अकालपुरुष भी मैं हूँ; सृजन करने वालों

में चतुर्मुख ब्रह्म मैं हूँ और सब प्राणियों का पालन पोषण करने वाला विष्णु भी मैं ही हूँ।

34. सबका हरण करने वाली अर्थात नाश करने वाली सर्वभक्षी मृत्यु मैं हूँ और भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्राणियों की उत्त्पत्ति का कारण भी मैं हूँ। स्त्रीजाति के सात सर्वश्रेष्ठ गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाली सात दिव्य-देवियां अर्थात श्री, कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैं ही हूँ।

35. सामवेद के गीतों में मैं सर्वश्रेष्ठ बृहत्साम हूँ और वैदिक छंदों में वेद-जननी गायत्री छंद हूँ मैं। साल के बारह महीनों में मार्गशीर्ष (नवम्बर-दिसंबर) का महीना और छह ऋतुओं में वसंतऋतु मैं हूँ।

36. समस्त छल-कपट करने वालों में जुआ और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। विजेताओं की विजय मैं हूँ और निश्चय या संकल्प करने वालों का साहसिक प्रयास मैं हूँ। सात्विक मनुष्यों में सात्विक आचरण करने के लिए सात्विक गुण, भाव अथवा बल भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन! मेरे कहने का तात्पर्य यह है की शुभ-अशुभ दोनों ही मेरी दिव्यमाया की शक्तियाँ हैं।

37. वृष्णि-कुल में वासुदेव-पुत्र कृष्ण और पांडवों में अर्जुन मैं हूँ। मुनियों में वेदों का संकलन करता वेदव्यास और कवियों में दैत्य कवि शुक्राचार्य अर्थात उशना (संजीवनी विद्या का ज्ञाता) भी मैं ही हूँ।

38. अराजकता का दमन करने हेतु दुष्टों के लिए दण्डनीति मैं हूँ; विजय की आकांक्षा करने वालों की विजयनीति मैं हूँ; गोपनीय

भावों अर्थात रहस्यों में मौन मैं हूँ और समस्त ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान भी मैं ही हूँ।

39. हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों का बीज़ अर्थात मूलकारण मैं ही हूँ; क्योंकि कोई भी ऐसा चराचर प्राणी नहीं है जो मेरे बिना रह सके अर्थात समस्त जीवों का निमित्त कारण भी मैं ही हूँ।

40. हे शत्रुओं के दमनकर्त्ता! मेरी दिव्य विभूतियों का तो कोई अन्त ही नहीं है। मैंने तुम्हें जो भी अपनी विभूतियों के बारे में बताया है - यह तो बहुत संक्षेप में केवल नाममात्र ही बताया है।

41. इस संसार में जो भी ऐश्वर्ययुक्त, सौंदर्ययुक्त और शक्तिसम्पन्न सजीव या निर्जीव वस्तु है, उसे तुम मेरे ही तेज के केवल अंशमात्र से उत्पन्न हुई समझो।

42. परन्तु हे अर्जुन! तुम्हें बहुत सारी बातें जानने की क्या आवश्यकता है अर्थात तुम्हारा क्या प्रयोजन है? मैं तो अपनी योगशक्ति के केवल एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करके स्थित रहता हूँ।

अध्याय 11
विश्वरूप दर्शन अथवा विराटरूप दर्शन

भगवान के विभिन्न ऐश्वर्यों और विभूतियों को सुनकर अर्जुन की जिज्ञासा इतनी बढ़ जाती है की वह भगवान के अलौकिक रूप के दर्शन करना चाहता है। श्री भगवान अर्जुन पर कृपा करके उसको ज्ञानचक्षु प्रदान करते हैं और अपना परम ऐश्वर्यमयी विश्वरूप दिखाते हैं। अर्जुन आश्चर्य से रोमांचित हो उठता है तथा भगवान के उस अत्यंत प्रकाशमान, बहुरंगी, विशाल, अत्यंत तेजस्वी और विकराल रूप को देखकर बहुत भयभीत और व्याकुल हो जाता है। दोनों सेनाओं के बड़े-बड़े महारथियों को वह भगवान के भयंकर दाँतों के बीच में फंसे हुए देखता है। भगवान बताते हैं कि वह सब योद्धाओं का काल बनकर आये हैं, अतः तुम केवल निमित्तमात्र बनकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ तथा शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से संपन्न राज्य को भोगो। अर्जुन भगवान के उग्र-रूप को देखकर घबरा जाता है और भगवान का सौम्य सुन्दर विराट विष्णु रूप देखने की प्रार्थना करता है। अर्जुन भगवान से किये गए उपहासों के लिए क्षमा मांगता है। भगवान अर्जुन को आश्वस्त करते हैं और निष्काम रूप से कर्त्तव्य करते हुए युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं।

1. **अर्जुन ने कहा** - आपने मुझ पर कृपा करने के लिए आध्यात्मिक विषय पर जो गुप्ततम उपदेश दिए, उससे मेरा यह मोह अर्थात भ्रम नष्ट हो गया है।

2. क्योंकि हे कमलनयन! मैंने आपसे ही समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश के बारे में विस्तार से सुना है और आपकी अविनाशी महिमा के बारे में भी जाना है।

3. हे परमेश्वर! आप अपने आपको जैसा कहते हैं, वास्तव में ऐसा ही है। परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके दिव्य ईश्वरीय रूप को अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ।

4. हे प्रभो! यदि आप मानते हैं कि मैं आपके उस ऐश्वर्यरूप को देख सकने में समर्थ अथवा सक्षम हूँ, तो हे योगेश्वर! आप कृपा करके मुझे अपने उस शाश्वत अविनाशी स्वरूप के दर्शन दीजिए।

5. श्री भगवान बोले - हे पार्थ! अब तुम मेरे नाना प्रकार के अनेक वर्णों अर्थात रंगों और विविध प्रकार की आकृतियों वाले सैंकड़ों - सहस्त्रों दिव्य-रूपों को देखो।

6. हे भारत! तुम मुझमें बारह आदित्यों को, ग्यारह रुद्रों को, आठ वसुओं को, दोनों अश्विनी कुमारों को (यह तैतीस कोटि अर्थात तैतीस प्रकार के देवता हैं) और उनचास मरुद्गणों (दैत्यों से बने देवता) को देखो। इनके अतिरिक्त मेरे बहुत से ऐसे आश्चर्यजनक रूपों को भी देखो जिनको तूने पहले कभी नहीं देखा है।

7. हे गुडाकेश अर्थात नींद को जीतने वाले अर्जुन! अब तुम मेरे शरीर के एक स्थान में ही सम्पूर्ण चराचर संसार को देख लो तथा इसके सिवाय कुछ और भी देखना चाहते हो, तो वह भी देख लो।

8. किन्तु तुम मुझे अपनी इन आँखों से नहीं देख सकते, इसलिए मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तुम मेरी योगशक्ति को अर्थात अलौकिक माया को देख सकोगे।

9. **संजय ने कहा** - हे राजन! महायोगेश्वर भगवान श्री कृष्ण ने ऐसा कहकर फिर अर्जुन को अपने परम-ऐश्वर्यमय विराट-स्वरूप का दर्शन करवाया।

10.11. अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण के अनेक मुख व नेत्रों वाले, असंख्य, अद्भुत दृश्यों वाले, नाना प्रकार के दैवी आभूषणों से अलंकृत, बहुत सारे दिव्यशस्त्रों को हाथों में उठाये हुए, अलौकिक मालाएं और दिव्यवस्त्र धारण किये हुए, दिव्य सुगंधियों का लेपन किये हुए, सर्वथा आश्चर्यमय, असीम, सर्वव्यापक विश्वरूप का दर्शन किया।

12. यदि आकाश में एक साथ ही हजारों सूर्यों का उदय भी हो जाये, तो उन सबका प्रकाश भी शायद ही भगवान के उस विराट रूप के तेज की बराबरी कर पाए।

13. उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव भगवान श्री कृष्ण के दिव्य शरीर में एक ही स्थान पर स्थित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अनेक प्रकार के विभागों में विभाजित देखा।

14. तब भगवान के उस विराट रूप को देखकर अर्जुन बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और हर्ष के कारण उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। तब अर्जुन हाथ जोड़कर विश्वरूप देव को शीश झुकाकर प्रणाम करते हुए बोला।

15. **अर्जुन ने कहा** - हे देव! मैं आपके शरीर में सारे देवताओं को, विभिन्न प्रकार के जीवसमूहों को, कमलासन पर विराजमान ब्रह्मा जी को, भगवान शिव जी को, सभी ऋषि-मुनियों को और दिव्य-सर्पों को देख रहा हूँ।

16. हे विश्वेश्वर! मैं आपको अनेक भुजाओं, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त असंख्य रूपों में सर्वत्र देख रहा हूँ; परन्तु हे विश्वरूप! मैं न तो आपके आदि को, न ही मध्य को और न ही अंत को देख पा रहा हूँ।

17. मैं आपको मुकुट, गदा, चक्र आदि धारण किये हुए देख रहा हूँ। मैं आपके सर्वत्र प्रकाशमान, तेजपुंज, प्रज्जवलित अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, असीम, अनंत स्वरूप को तेज चकाचौंध के कारण अत्यंत कठिनाई से देख पा रहा हूँ।

18. आप ही जानने योग्य, निर्गुण, निराकार, परम-अक्षर, ब्रह्म-स्वरूप परमात्मा हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्व के परम-आश्रय अर्थात आधार हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं - ऐसा मेरा मत है।

19. मैं आपके आदि, मध्य और अंत को नहीं देख पा रहा हूँ अर्थात आप असीम और अनंत हैं। मैं आपको अपार शक्तिशाली, असंख्य भुजाओं वाले, चन्द्रमा और सूर्य की तरह नेत्रों वाले, प्रज्जवलित अग्निरूप मुखों वाले तथा अपने तेज से इस सम्पूर्ण विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ।

20. हे महात्मन! स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का यह सम्पूर्ण आकाश व

समस्त दिशाएं केवल आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत और व्याकुल हो रहे हैं।

21. समस्त देवताओं के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं; और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का कीर्तन कर रहे हैं। महाऋषियों और सिद्धों के समूह "कल्याण हो! मंगल हो!" कहकर उत्तम स्त्रोतों के द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

22. हे परमात्मन! बारह आदित्य, ग्यारह रूद्र, आठ वसु, दो अश्विनी कुमार, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव, उनचास मरुद्गण, और गर्म भोजन करने वाले सात पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह - सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं।

23. हे महाबाहो! आपके बहुत से मुखों व नेत्रों वाले, बहुत सी भुजाओं, जंघाओं व पैरों वाले, बहुत से पेटों वाले तथा बहुत से भयंकर, विकराल दाँतों वाले विशाल रूप को देखकर सभी लोग बहुत व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी बहुत विचलित हो रहा हूँ।

24. हे सर्वव्यापक विष्णो! आपका दिव्य स्वरूप आकाश को स्पर्श कर रहा है; आपके अनेक ज्योतिर्मय रंग हैं; आपका मुख फैला हुआ है तथा आपके प्रकाशमान विशाल नेत्र हैं। आपको ऐसे देखकर मैं भयभीत हो रहा हूँ तथा अपना धैर्य और शांति खो रहा हूँ।

25. आपके भयंकर दाढ़ों वाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्जवलित विकराल मुखों को देखकर न तो मुझे दिशाओं का ज्ञान हो रहा है

और न ही मुझे शांति मिल पा रही है अर्थात मैं अपना मानसिक संतुलन खो रहा हूँ। इसलिए हे देवेश! हे जगत के पालनकर्त्ता! कृपया आप प्रसन्न हो जाइये।

26-27. धृतराष्ट्र के सारे पुत्र अपने समस्त सहायक राजाओं सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे प्रमुख योद्धा भी विकराल दाँतों वाले भयानक मुखों में बड़ी तेजी से प्रवेश कर रहे हैं। उनमें कईयों के तो सिर भी चूर्ण हो चुके हैं और वे आपके दाँतों और दाढ़ों के बीच में फंसे हुए दिख रहे हैं।

28. जिस प्रकार नदियों के बहुत सारे जल-प्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की और दौड़ते हुए उसमें विलीन हो जाते हैं, वैसे ही संसार के यह महान योद्धा भी आपके प्रज्जवलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

29. जिस प्रकार कीट पतंगे मोहवश अपने विनाश के लिए प्रज्जवलित अग्नि में बड़े वेग से कूद पड़ते हैं, वैसे ही यह सब लोग भी अपना नाश करने के लिए बड़ी तीव्र गति से दौड़ते हुए आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

30. हे विश्व-व्यापक विष्णु! आप अपने प्रज्जवलित मुखों से सभी दिशाओं के लोगों को निगलते हुए बारम्बार चाट रहे हैं; आपका उग्र प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण होकर अर्थात फैलकर अपने तेज से सारे ब्रह्माण्ड को झुलसा रहा है।

31. हे देवताओं में श्रेष्ठ! कृपा करके मुझे बताइये कि इतने उग्र रूप में आप कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रसन्न हो जायें। हे आदि पुरुष! मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूँ;

क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूँ।

32. श्री भगवान बोले - मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ और इस समय इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो भी योद्धा खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात मेरे द्वारा मारे जायेंगे।

33. अतः तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ और यश को प्राप्त करो तथा शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से संपन्न राज्य को भोगो। यह सभी मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इसलिए हे सव्यसाचिन अर्थात दोनों हाथों से बाण चलाने वाले अर्जुन! तुम इनको मारने के लिए निमित्त मात्र बन जाओ।

34. द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य सभी शूरवीर योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इसलिए तुम तनिक भी विचलित हुए बिना उनका वध करो। निस्संदेह युद्ध में तुम सब शत्रुओं को जीत लोगे, अतः केवल युद्ध करो।

35. **संजय ने धृतराष्ट्र से कहा** - हे राजन! भगवान कृष्ण के इन वचनों को सुनकर भय से कांपते हुए मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोड़कर बारम्बार नमस्कार अर्थात प्रणाम करके गदगद तथा अवरुद्ध वाणी से श्री कृष्ण को इस प्रकार कहा।

36. **अर्जुन ने कहा** - हे अंतर्यामी हृषिकेश! आपके नाम, गुण और लीला का कीर्तन करने से सारा संसार हर्षित होकर प्रेमभाव को प्राप्त हो रहा है। इससे राक्षस लोग भयभीत होकर दसों दिशाओं

में भाग रहे हैं; सारे सिद्ध-पुरुष आपको नमस्कार कर रहे हैं; और यह सब यथोचित ही है अर्थात बिल्कुल सही है।

37. हे महात्मन! आप श्रेष्ठतम हैं और ब्रह्मा जी के भी आदि स्रष्टा हैं, तो फिर यह सिद्धगण आपको सादर नमस्कार क्यों न करें? हे अनंत! हे देवेश! हे जगत के पालनकर्त्ता! आप ही अविनाशी परब्रह्म और सत्य-असत्य से भी परे इस सृष्टि के भी परमस्रोत हैं।

38. हे भगवन! आप ही आदि-देव और सनातन पुरुष हैं तथा आप ही इस विश्व के परम-आश्रय हैं। आप ही सबके जानने योग्य, सबको जानने वाले और सबके परम धाम हैं। हे अनंत रूप! इस सम्पूर्ण जगत में सर्वत्र आप ही आप व्याप्त और विराजमान हैं।

39. हे भगवन! आप ही वायु, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, यमराज, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा जी के भी पिता हैं; अतः आपको हजारों बार नमस्कार हो और बार-बार नमस्कार हो।

40. हे ब्रह्माण्ड के सर्वे-सर्वा! आप को आगे से नमस्कार हो, पीछे से नमस्कार हो तथा सब ओर से अर्थात दसों दिशाओं से नमस्कार हो। हे असीम पराक्रम वाले अनन्तवीर्य! यह सम्पूर्ण संसार आपके अंतर्गत है, अतः आप स्वयं ही सब कुछ हैं।

41-42. हे भगवन! आप की इस महिमा को न जानते हुए मैंने आपको अपना सखा मानकर प्रेमवश, मूर्खतावश या लापरवाही से बिना सोचे समझे या हठपूर्वक हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे आदि कहा है। हे अच्युत! हंसी-खेल में, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-

बैठते, भोजन के समय, अकेले या सबके सामने मैंने कई बार आपका अनादर या अपमान किया है। हे अपरिमित, अचिन्त्य व अकल्पनीय भगवन! उन सब अपराधों के लिए मैं आपसे क्षमा मांगता हूँ।

43. हे भगवन! आप इस चर-अचर जगत के पिता और गुरुओं के भी महान पूजनीय गुरु हैं। हे अनंत प्रभाव वाले परमात्मन! इन तीनों लोकों में आपके समान कोई भी दूसरा नहीं है; तब आपसे अधिक विलक्षण और कोई हो ही कैसे सकता है?

44. इसलिए हे प्रभो! मैं आपके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जैसे पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और पति अपनी पत्नी के अपराध या अपमान को सहन कर लेता है या क्षमा कर देता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये।

45. आपका ऐसा अलौकिक आश्चर्यमय विशालरूप मैंने पहले कभी नहीं देखा है, इसलिए अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, किन्तु साथ ही भय से मेरा मन अत्यंत व्याकुल भी हो रहा है। अतः हे देवेश! हे जगत के आश्रय! आप प्रसन्न होकर मुझे अपना शांत चतुर्भुज विष्णुरूप दिखायें।

46. हे विराटरूप भगवन! मैं आपको दिव्य मुकुट धारण किये हुए तथा हाथों में गदा, शंख, पदम व सुदर्शन चक्र लिए हुए देखना चाहता हूँ। इसलिए हे सहस्त्रबाहो! हे विश्वरूप! आप उसी चतुर्भुज विष्णुरूप में प्रकट होकर मुझे दर्शन दीजिये।

47. श्री भगवान बोले - हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगमाया के बल से तुम्हें अपना यह परम तेजोमय, अनादि, अनंत विश्वरूप दिखाया है। तुमसे पहले किसी ने भी इस रूप के दर्शन नहीं किये हैं।

48. हे कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे अतिरिक्त इस मनुष्य लोक में किसी ने भी मेरे इस विराटरूप के दर्शन नहीं किये हैं, क्योंकि मुझे न वेद पढ़ने से, न यज्ञ से, न दान से, न उग्र तप से और न ही कर्म-कांड की क्रियाओं से इस रूप में देखा जा सकता है; अर्थात यह केवल मेरी कृपा या प्रसन्नता से ही संभव है।

49. मेरा यह उग्र अथवा भयानक रूप देखकर तुम्हें व्याकुल, मोहित या भ्रमित नहीं होना चाहिए। निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर तुम फिर मेरे उसी चतुर्भुज रूप के अच्छी तरह से दर्शन कर लो।

50. संजय ने धृतराष्ट्र से कहा- हे राजन! वासुदेव भगवान ने अर्जुन से ऐसा कहकर उसे अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर मनुष्य-रूप धारण करके श्री कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया और ढाँढस बंधाया।

51. अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन! आपके इस सुन्दर सौम्य मनुष्यरूप को देखकर अब मैं शांतचित्त हो गया हूँ और मैंने अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लिया है।

52. श्री भगवान बोले - हे अर्जुन! मेरे जिस चतुर्भुज रूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है। सभी देवता भी मेरे इस रूप को देखने के लिए नित्य लालायित रहते हैं।

53. हे अर्जुन! जिस प्रकार तूने मुझे चतुर्भुज रूप में देखा है, वैसा रूप तो वेद-अध्ययन करने पर, बहुत बड़ी तपस्या करने पर, बहुत बड़ा दान देने पर तथा बहुत बड़ा यज्ञ अनुष्ठान करने पर भी देखना असंभव है।

54. परन्तु हे शत्रुओं के दमनकर्त्ता अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे इस दिव्य चतुर्भुज रूप में देखना और तत्त्व ज्ञान से जानना संभव है। केवल अनन्य भक्त ही मेरा साक्षात दर्शन कर सकते हैं और मुझे प्राप्त कर सकते हैं।

55. हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मेरे को ही परम ध्येय मानने वाला, मेरा ही प्रेमी भक्त है तथा सर्वथा आसक्ति रहित और प्राणी मात्र के साथ वैरभाव से रहित है, केवल वही भक्त मुझे प्राप्त कर सकता है।

अध्याय 12
भक्ति योग

भगवान के साक्षात दर्शन करने के पश्चात अर्जुन की जिज्ञासा और बढ़ जाती है और वह भगवान से जानना चाहता है कि साकार की पूजा करने वाले भक्तों और निराकार का ध्यान करने वाले भक्तों में से कौन से भक्त अधिक श्रेष्ठ हैं? श्री भगवान अर्जुन को समझाते हैं की वैसे तो दोनों प्रकार के भक्त उनको प्रिय हैं, परन्तु जो भक्त स्थिर मन से श्रद्धापूर्वक उनके साकार रूप की सतत पूजा करते हैं; वह भक्त मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं; हालाँकि मेरे निराकार, अविनाशी, अक्षर और सर्वव्यापी रूप की पूजा करने वाले भी अन्ततोगत्वा मेरे तक पहुँच जाते हैं लेकिन यह पथ देहधारियों के लिए अत्यंत कठिन और क्लेशपूर्ण है। भगवान अर्जुन को चित्त को स्थिर करने के लिए अभ्यासयोग की सलाह देते हैं और निष्काम कर्म को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। भगवान यह भी कहते हैं कि ज्ञानीभक्त उनको सर्वाधिक प्रिय हैं। "सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि त्याग से तत्काल ही परमशांति प्राप्त हो जाती है। जो भक्त मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर सदैव निष्काम कर्म करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय हैं।"

1. जो भक्त निरंतर आप में मगन रहकर आपके सगुण साकार कृष्ण स्वरूप की उपासना करते हैं और जो अविनाशी, निर्गुण, निराकार परमात्मा की उपासना करते हैं, उन दोनों में से कौन से अधिक उत्तम योगी हैं?

2. श्री भगवान बोले - जो भक्त मन को एकाग्र करके नित्य-निरंतर परमश्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर मेरे सगुण साकार कृष्ण स्वरूप की उपासना करते हैं, वे ही मेरे मत में सर्वोत्तम योगी हैं।

3-4. परन्तु जो मनुष्य सारी इन्द्रियों को वश में करके अविनाशी, अप्रत्यक्ष, सर्वव्यापी, अकल्पनीय, अनिर्देशित, अपरिवर्तनशील, अचल और ध्रुव सनातन ब्रह्म की तत्परता से उपासना करते हैं और समभाव में रहकर प्रीतिपूर्वक जीवों के कल्याण में लगे रहते हैं, वे भी अन्ततः मुझे ही प्राप्त करते हैं।

5. जिन साधकों के मन परमेश्वर के अप्रत्यक्ष, निराकार, निर्गुण स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यंत कष्टप्रद होता है, क्योंकि देहधारियों के लिए अप्रकट निराकार की साधना करना सदैव दुष्कर अथवा कठिन कार्य है।

6-7. परन्तु जो भक्त मुझको ही अपना परम लक्ष्य मानकर सभी कर्मों को मुझे अर्पण करके, अनन्य भक्ति के द्वारा निरंतर मेरा ही ध्यान करते हुए श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं और जिनका चित्त सदैव मेरे सगुण स्वरूप में स्थिर रहता है; हे पार्थ! उन भक्तों का मैं मृत्यु-रुपी संसार अर्थात भवसागर से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।

8. तुम मुझमें ही अपने मन को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि को मुझमें ही लगाओ; इसके पश्चात तुम निःसंदेह मुझमें ही निवास करोगे। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

9. हे धनंजय! यदि तुम अपने चित्त को मुझमें स्थिर करने में

असमर्थ हो तो बार-बार जप, तप, ध्यान, मनन आदि अभ्यासयोग के द्वारा मेरी प्राप्ति की कामना करो।

10. अगर तुम अभ्यासयोग करने में भी सक्षम नहीं हो तो मेरे को परम-ध्येय मानकर मेरे लिए सारे कर्त्तव्यकर्मों को करते जाओ और मुझे ही अर्पण करते जाओ; इस तरह निष्काम कर्म करते हुए भी तुम शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त कर लोगे।

11. परन्तु यदि तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो तो केवल मुझमें ही आश्रय लेकर, मन और इन्द्रियों को वश में करके, सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग कर दो।

12. मर्म जाने बिना अभ्यास करने से शास्त्र-ज्ञान श्रेष्ठ है; शास्त्र-ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है; और ध्यान से भी सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शांति प्राप्त हो जाती है।

13-14. जो मनुष्य सभी प्राणियों से द्वेष रहित है; सबका मित्र है; दयालु है; ममता और अहंकार से रहित है; सुख-दुख में समभाव है; क्षमाशील और सन्तुष्ट है; जो दृढ़ निश्चयी योगी निरन्तर इन्द्रियों को वश में रखकर; मन और बुद्धि को मुझे अर्पण करके सदैव मेरा ही ध्यान करता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

15. जो मनुष्य किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता और जो मनुष्य स्वयं भी किसी प्राणी से विचलित नहीं होता; तथा जो क्षणिक प्रसन्नता, ईर्ष्या, भय और चिंता से मुक्त है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

16. जो मनुष्य किसी से भी कोई अपेक्षा नहीं रखता, बाहर-भीतर से पवित्र है, कुशल, तटस्थ, निर्लिप्त व पक्षपात से रहित है, सुख-दुख में अचल है, फल की इच्छा से नए-नए सकाम कर्मों का सर्वथा त्यागी है, ऐसा मेरा भक्त मुझे बहुत प्रिय है।

17. जो न तो सुख में अतिहर्षित होता है और न ही दुःख में अधिक शोक करता है; जो न तो किसी से द्वेष करता है और न ही किसी वस्तु की कामना करता है; तथा जो शुभ-अशुभ सभी कर्मफलों का त्याग कर चुका है, वह भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

18-19. जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, यश-अपयश, सदी-गर्मी, सुख-दुख में समभाव रहता है; जो आसक्ति-रहित है, जिसके लिए निंदा-स्तुति दोनों बराबर है; जो मौन और संतुष्ट है और रहने के स्थान के प्रति अनासक्त है; स्थिरबुद्धि और भक्ति में लीन है; ऐसा पुरुष मुझे अति प्रिय है।

20. जो श्रद्धावान भक्त मुझे ही अपना परम-लक्ष्य मानकर इस धर्ममय अमृत का भलीभाँति सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय हैं।

अध्याय 13
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योग अथवा पुरुष, प्रकृति और जीवात्मा

श्री भगवान अर्जुन को समझाते हैं की यह शरीर एक क्षेत्र है और इसको अच्छी तरह से जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और सृष्टि के क्षेत्रज्ञ वह स्वयं हैं। भगवान स्पष्ट करते हैं कि यह पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञाननेंद्रियों के विषय; और मन, बुद्धि और अहंकार सब मिलकर कार्यक्षेत्र का निर्माण करते हैं जिसमें सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष इत्यादि विकार भी शामिल होते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही यह चर-अचर जगत अस्तित्व में हैं। भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को ज्ञान और अज्ञान के लक्षण भी स्पष्ट करते हैं; पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि और अनंत हैं; दोनों मिलकर सृजन करते हैं; जीवात्मा गुण-संगति के कारण सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी योनि धारण करता है और सुख-दुःख के भोग का हेतु बन जाता है। प्रकृति के साथ मिलकर जीवात्मा प्रकृति के गुणों को भोगता है। प्रकृति के गुणों के संग के कारण ही जीवात्मा ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेता है। सतोगुण से देवयोनि, रजोगुण से मनुष्य-योनि और तमोगुण से राक्षस या पशु-योनि मिलती है।

1. **श्री भगवान बोले** - हे कुन्तीनन्दन! मनुष्य के इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इस क्षेत्र को भलीभांति जानता है, ज्ञानी

लोग उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

2. हे भरतवंशी अर्जुन! मुझे ही तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ अर्थात ज्ञाता जानो। मेरे मत में क्षेत्र अर्थात शरीर की सम्पूर्ण संसार के साथ एकता है; और जीवात्मा की मुझ क्षेत्रज्ञ के साथ एकता है; जो इस तत्त्वज्ञान को जानता है, यथार्थ में वही सच्चा ज्ञानी है।

3. यह क्षेत्र क्या है? कर्म-क्षेत्र क्या है? इसका स्त्रोत कहाँ है? इसमें क्या विकार हैं? इसकी विभूतियाँ क्या हैं? इसमें परिवर्तन कैसे होते हैं? इस कर्म-क्षेत्र को जानने वाला कौन है? और उसका क्या प्रभाव है? - वह सब तुम संक्षेप में मुझसे सुनो।

4. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ऋषियों द्वारा अनेक प्रकार से बताया गया है तथा नाना प्रकार के वेद-मन्त्रों और ब्रह्मसूत्र के युक्तियुक्त अर्थात तर्कसंगत पदों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

5-6. मानव का कर्म-क्षेत्र कैसे बनता है? पाँच महाभूत - पृथ्वी, अग्नि, आकाश, वायु, जल; पांच ज्ञानेन्द्रियां - नेत्र, नाक, जीभ, कान, त्वचा; पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय- रूप, गंध, स्वाद, ध्वनि और स्पर्श; पांच कर्मेन्द्रियां - हाथ, पांव, गुदा, जननेन्द्रियां, वाणी; इसके अतिरिक्त मन, बुद्धि, अहंकार और अप्रकट मूलप्रकृति अर्थात माया। इस तरह इन चौबीस तत्त्वों का यह समूह मानव शरीर कहलाता है। इसके साथ इच्छा, द्वेष, सुख-दुख, चेतना और धैर्य आदि विकारों को मिलकर हमारा कर्म-क्षेत्र बनता है।

7-11. अपने श्रेष्ठ होने का अभिमान न होना अर्थात विनम्रता, दम्भहीनता अर्थात दिखावटीपन का न होना, अहिंसा, क्षमा,

सरलता, गुरु की सेवा, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का न होना; जन्म, मृत्यु, रोग और वृद्धावस्था में दुःख रूप दोषों को बार-बार देखना, आसक्ति-रहित होना; पुत्र, स्त्री, घर आदि में अत्यधिक मोह-ममता का न होना, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहना, मेरे प्रति बिना व्यवधान के निरंतर अनन्य भक्ति का होना, एकांत स्थान में रहने का स्वभाव, जनसमूह में प्रीति का न होना, अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति में निरंतर लगे रहना, तत्त्व-ज्ञान के द्वारा सर्वत्र परमात्मा के ही दर्शन करना इत्यादि - यह बीस साधन तो ज्ञान-प्राप्ति के हैं - और जो भी इसके विपरीत है, वह सब अज्ञान कहा जाता है।

12. जो जानने योग्य परम तत्त्व है मैं तुम्हें उसके बारे में अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरत्व का अनुभव कर लेता है। वह अनादि, अनंत, परब्रह्म, सत और असत के गुणों से भी परे अर्थात अक्षरातीत व कालातीत है।

13. सगुण या साकार रूप में परमात्मा के हाथ और पैर सब जगह हैं; उसके नेत्र, सिर, मुख और कान भी सब जगह हैं; क्योंकि वह सर्वव्यापी होकर सर्वत्र स्थित है।

14. निराकार रूप में परमात्मा समस्त इन्द्रियों के मूल-स्त्रोत और ज्ञाता होते हुए भी सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित हैं। सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण करते हुए भी आसक्ति-रहित हैं; तथा निर्गुण स्वरूप होते हुए भी सम्पूर्ण गुणों के भोक्ता हैं।

15. परमात्मा सभी प्राणियों के बाहर और भीतर विद्यमान हैं तथा चर

और अचर प्राणियों के रूप में अति-दूर या अति-समीप भी हैं। अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण वे भौतिक इन्द्रियों के द्वारा जानने या देखने में भी नहीं आते।

16. यद्यपि परमात्मा समस्त जीवों में बंटे हुए प्रतीत होते हैं, लेकिन वे विभाजित नहीं हैं; बल्कि सभी प्राणियों में एक रूप में स्थित हैं। वे जानने योग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाले, उनका भरण-पोषण करने वाले और उनका संहार करने वाले हैं।

17. परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियों अर्थात प्रकाशमान वस्तुओं या ज्ञान के स्त्रोत हैं। वह अंधकार रुपी अज्ञान से अत्यंत परे हैं। वे ही ज्ञान-स्वरूप, जानने योग्य और ज्ञान का लक्ष्य भी हैं और सब प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं।

18. श्री कृष्ण ने कहा - हे अर्जुन! इस तरह मैंने कर्म-क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। इसे केवल मेरा भक्त ही तत्त्व से जान सकता है और इस तरह मेरे स्वभाव को या स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।

19. प्रकृति और पुरुष अथवा पुरुष का अंशमात्र जीवात्मा दोनों ही अनादि हैं। सभी विकार तथा गुण भी प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

20. संसार के सम्पूर्ण कार्य, करण और इनके द्वारा होने वाली सब क्रियाएं भी प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है; लेकिन सुख-दुख का अनुभव पुरुष के अंश जीवात्मा या चेतन शक्ति के द्वारा होता है। पाँच महाभूतों

और पाँच विषयों का नाम कार्य है। करण अर्थात कार्य करने के साधन (औजार) तेरह तरह के हैं - पाँच कर्मेन्द्रियाँ (स्थूल); पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (सूक्ष्म) मिलकर बहिःकरण कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त मन, बुद्धि और अहंकार अतिसूक्ष्म होने के कारण अन्तःकरण कहलाते हैं।

21. प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष अर्थात जीवात्मा प्रकृति के गुणों को भोगता है। प्रकृति के गुणों का यह संग ही जीवात्मा का ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है। सतोगुण से देवयोनि, रजोगुण से मनुष्य-योनि और तमोगुण से राक्षस या पशु-योनि मिलती है।

22. इसके अतिरिक्त शरीर में एक अन्य दिव्य-पुरुष विद्यमान है, जिसको साक्षी, द्रष्टा, सम्मति या अनुमति देने वाला, पालनकर्त्ता, परमभोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि कहा जाता है; वह इस देह में रहता हुआ भी देह से सर्वथा सम्बन्ध-रहित है।

23. इस प्रकार जो मनुष्य पुरुष को अर्थात जीवात्मा को और उसके प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध को यथार्थ रूप से जान लेता है, वह सभी तरह के कर्त्तव्य-कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता अर्थात उसको मुक्ति मिल जाती है।

24. कई मनुष्य ध्यानयोग के द्वारा, कई विवेक या दार्शनिक विवेचना से ज्ञानयोग के द्वारा और कई निष्काम कर्मयोग के द्वारा अपने मन और बुद्धि को एकाग्र करके अपने अन्तःकरण में परमात्मा के दर्शन करते हैं।

25. परन्तु कुछ ऐसे लोग जो इन योग साधनों को नहीं जानते, केवल

दूसरे महापुरुषों से सुनकर ही श्रद्धापूर्वक उपासना शुरू कर देते हैं। इस तरह वे भी तत्परता पूर्वक महात्माओं की आज्ञा का पालन करते हुए निश्चय ही मृत्युरूपी भवसागर को पार कर जाते हैं।

26. हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! संसार में चर और अचर जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न हुए जानो।

27. जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को सम्पूर्ण नश्वर प्राणियों में समान रूप से स्थित देखता है, वही वास्तव में यथार्थ देखता है।

28. जो मनुष्य तीनों लोकों के सम्पूर्ण प्राणियों में समभाव से एक ही परमात्मा को देखता है; अर्थात उस परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करता है, वह अपने द्वारा ही अपनी हत्या नहीं करता अर्थात जन्म-मरण के चक्र में नहीं जाता और पतन को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार वह मनुष्य परमगति को पा जाता है।

29. जो मनुष्य यह देखता है कि सम्पूर्ण क्रियाओं को सब प्रकार से प्रकृति ही कर रही है और अपने आप को केवल अकर्त्ता ही देखता है तो वही यथार्थ देखता है और वास्तव में वही ज्ञानी है।

30. जिस काल में साधक यह देख लेता है कि सम्पूर्ण प्राणियों के अलग-अलग भाव एक ही प्रकृति से उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकृति में स्थित रहते हैं; उसी प्रकृति में ही उन सभी जीवों का विस्तार होता है और अन्ततः उसी प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं; उस काल में वह परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

31. हे कुन्तीपुत्र! यह परम-पुरुष अनादि, निर्गुण, निर्विकार, अविनाशी और साक्षात परमात्मा-स्वरूप ही है। यह शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता है और न ही किसी कर्म में लिप्त होता है। प्रकृति भी अनादि है पर वो गुणों और विकारों वाली है। इसमें सात्विक, राजसिक और तामसिक गुण पैदा होकर विकार पैदा करते हैं।

32. जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी है, किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण कहीं भी लिप्त नहीं होता है; उसी प्रकार आत्मा शरीर में सर्वत्र स्थित है, लेकिन वह नित्य सनातन आत्मा सर्वदा सर्वथा निर्लिप्त रहता है अर्थात किसी में भी घुलता मिलता नहीं और अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण सभी विकारों से पृथक बना रहता है।

33. हे भारत! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार शरीर के भीतर स्थित एक आत्मा ही सारे शरीर को चेतना से प्रकाशित कर देता है।

34. इस प्रकार जो लोग ज्ञान के चक्षुओं के द्वारा शरीर तथा शरीर के ज्ञाता या स्वामी के अन्तर को जान लेते हैं तथा प्रकृति के विकारों से मुक्त होने के उपाय भी जानते हैं, वे निश्चय ही परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

अध्याय 14

गुणत्रयविभाग योग अथवा प्रकृति के तीन गुण

श्री कृष्ण अर्जुन को परम श्रेष्ठ दिव्य-ज्ञान देते हुए कहते हैं कि वह स्वयं ही बीजदाता जनक बनकर ब्रह्मा की प्रकृति-रुपी योनि को गर्भस्थ करते हैं, जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। फिर सब जीवात्मा अपने-अपने सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण स्वभाव के कारण विभिन्न प्राणियों की देहों से बँध जाते हैं। सतोगुण निर्मल व प्रकाशक होने के कारण जीवात्मा को सुख और ज्ञान से बाँधता है। रजोगुण राग और तृष्णा के कारण जीवात्मा को लोभ, काम व कर्मफल से बाँध देता है। तमोगुण अज्ञान, अन्धकार और मोह के कारण जीवात्मा को आलस, प्रमाद, पागलपन और नींद से बाँध देता है। गुण-संगति के कारण प्रकृति के इन तीनों गुणों में कोई भी गुण किसी भी समय बाकी दो गुणों से बढ़ सकता है। मृत्यु के समय सत्त्वगुण बढ़े होने पर मनुष्य देवलोक को जाता है; रजोगुण बढ़े होने पर कर्मलोक अर्थात पृथ्वीलोक पर ही पुनर्जन्म लेता है और तमोगुण बढ़ जाने पर मूढ़-योनि अर्थात पशु-योनि या राक्षस-योनि में जन्म लेता है। परन्तु कई योगीजन निष्काम कर्म करते हुए प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

1. **श्री भगवान बोले** - अब मैं तुमसे सम्पूर्ण ज्ञानों में उत्तम और सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को पुनः कहूँगा, जिसे जानकर समस्त मुनिगण इस संसार से मुक्त होकर परमसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं।

2. जो मनुष्य मेरे इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी दिव्य प्रकृति, स्वभाव या मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गए हैं; वे न तो महासर्ग में अर्थात सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं और न ही महाप्रलय में विचलित होते हैं।

3. हे भारत! मेरी मूल-प्रकृति अर्थात त्रिगुणमयी माया इस सम्पूर्ण भौतिक जगत का उत्पत्ति स्थान या जन्म-स्त्रोत है। मैं उसमें चेतनता का बीज डालकर गर्भ की स्थापना करता हूँ, जिससे जड़ और चेतन के संयोग से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

4. हे कुन्तीपुत्र! सम्पूर्ण योनियों में प्राणियों के जितने भी शरीर पैदा होते हैं; मूल-प्रकृति या त्रिगुणमयी माया उन सबकी माता है; और मैं ही चेतना का बीज स्थापन करने वाला पिता हूँ।

5. हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तीनों गुण अर्थात सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलकर अविनाशी जीवात्मा को शरीर के साथ बाँध देते हैं।

6. हे निष्पाप अर्जुन! उन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश प्रदान करने वाला और विकार दूर करने वाला है। यह जीवात्मा को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है।

7. हे कुन्तीनन्दन! रजोगुण कामना, लालसा और आकांक्षा से उत्पन्न होता है तथा विषय भोग की तृष्णा या प्यास और लोभ पैदा करता है। यह जीवात्मा को कर्मफल की आसक्ति से बाँधता है।

8. हे भारत! सम्पूर्ण देहधारियों को मोह या भ्रम में डालने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह मूर्खता, पागलपन, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँधता हैं।

9. हे भरतवंशी अर्जुन! सतोगुण मनुष्य को सुख में लगाकर, रजोगुण सकाम कर्म में लगाकर और तमोगुण ज्ञान को ढककर, मनुष्य को पागलपन या लापरवाही में लगाकर, वश में कर लेता है अर्थात विजय प्राप्त करता है।

10. हे भरतपुत्र! कभी सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण को परास्त करके प्रधान बन जाता है; तो कभी रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण को दबाकर बढ़ जाता है; तथा वैसे ही कभी-कभी तमोगुण, सतोगुण और रजोगुण को दबा लेता है। इस प्रकार तीनों गुणों में श्रेष्ठता के लिए निरंतर प्रतिस्पर्धा चलती रहती है।

11. जब मनुष्य शरीर के सारे द्वार ज्ञान अर्थात विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं तो यह जान लेना चाहिए की सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

12. हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ-लालच, सक्रियता, सकाम कर्मों का आरम्भ, अशांति, बेचैनी और विषय भोगों की लालसा आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

13. हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने पर अंधकार अर्थात अज्ञान, निष्क्रियता अर्थात आलस्य, प्रमाद अर्थात पागलपन, मूर्खता और लापरवाही; तथा भ्रम अथवा मोह आदि वृत्तियाँ पैदा हो जाती हैं।

14. यदि मृत्यु के समय मनुष्य का सतोगुण बड़ा हुआ हो तो वह श्रेष्ठ कर्म करने वाले निर्मललोकों अर्थात स्वर्गलोकों में जाता है।

15. रजोगुण के बढ़ने पर मरने वाला मनुष्य कर्मफल में आसक्ति रखने वालों की संगति में जन्म लेता है; तथा तमोगुण की वृद्धि के समय मरने वाला मनुष्य, पशु, भूत-पिशाच, यक्ष या राक्षस आदि मूढ़-योनियों में जन्म लेता है।

16. सात्विक कर्म अर्थात पुण्य कर्म का फल शुभ, शुद्ध अथवा निर्मल और सुख होता है; राजसिक कर्म का फल मानसिक-तनाव, कलह-क्लेश और दुःख होता है; और तामसिक कर्म का फल अज्ञान, उन्माद, मूढ़ता, घोर दुःख और बर्बादी कहा जाता है।

17. सतोगुण से ज्ञान और रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होते हैं; तमोगुण से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान ही उत्पन्न होते हैं।

18. सतोगुण में स्थित मनुष्य उच्च लोकों में अर्थात स्वर्गलोकों में जाते हैं। रजोगुण में स्थित मनुष्य मृत्युलोक अर्थात पृथ्वीलोक में ही रह जाते हैं। निंदनीय तमोगुण में स्थित तामस मनुष्य नीचे नरक में नीच योनियों में ही जाते हैं।

19. जब विवेकी मनुष्य यह अच्छी तरह से जान लेता है कि प्रकृति के तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई भी कर्त्ता नहीं है और जब वह तीनों गुणों से परे परमात्मा को जान लेता है; तब वह मेरे दिव्य स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।

20. जब देहधारी मनुष्य भौतिक शरीर को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों को लाँघ जाता है अर्थात पार कर जाता है तो वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा उनके कष्टों से मुक्त होकर अमृत का भोग कर लेता है।

21. अर्जुन ने कहा - हे प्रभो! जो मनुष्य इन तीनों गुणों से परे है, उसके क्या लक्षण हैं? उसका आचरण कैसा होता है? और वह प्रकृति के इन तीनों गुणों को कैसे पार कर सकता है या लाँघ सकता है?

22. श्री भगवान बोले - हे पाण्डव! जो प्रकाश, प्रवृत्ति, सक्रियता और मोह-भ्रम के उपस्थित होने पर न तो उनसे घृणा करता है और न ही उनके लुप्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है।

23. जो उदासीन अर्थात साक्षी या द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है और जो त्रिगुणों से विचलित नहीं होता है तथा यह समझता है कि तीनों गुण अपने-अपने कार्य कर रहे हैं; इसलिए वह बिना हिले-डुले या डगमगाये परमात्मा में स्थिर-भाव से स्थित रहता है।

24-25. जो धैर्यवान मनुष्य निरंतर आत्मभाव में रहता है और सुख-दुःख में समान रहता है; जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना एक बराबर हैं; जो प्रिय-अप्रिय, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र में समभाव रखता है; और सभी कर्म करते हुए भी कर्त्ताभाव से रहित है, वह मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों से परे कहा जाता है।

26. जो व्यक्ति बिना विचलित हुए और बिना किसी अन्य का सहारा लिए केवल मेरा आश्रय लेकर अनन्य भक्तियोग के द्वारा निरंतर मेरी सेवा करता है; वह प्रकृति के इन तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा को पाने का अधिकारी हो जाता है।

27. क्योंकि मैं ही परब्रह्म का, अविनाशी अमृत का, सनातन धर्म का और चरम-सुख का अर्थात परम-आनंद का अंतिम आश्रय या शाश्वत स्रोत हूँ।

अध्याय 15
पुरुषोत्तम योग

भगवान श्री कृष्ण जी आध्यात्मिक जगत की तुलना एक उल्टे पीपल के वृक्ष के साथ करते हैं जिसकी जड़ें ऊपर की ओर जा रही हैं और सारी शाखायें नीचे की ओर आ रही हैं। अपने-अपने कर्मों के अनुसार व्यक्ति अलग-अलग परिस्थितियों में विषय-रुपी डालियों या शाखाओं से बँधे रहते हैं। भगवान मनुष्य को उपदेश देते हैं कि अनासक्ति के हथियार से इस वट वृक्ष की दृढ़ शाखाओं और जड़ों को काटकर आदि-पुरुष के उस आध्यात्मिक परम-धाम को ढूँढना चाहिए, जहाँ पर एक बार पहुँच कर कोई भी मनुष्य लौट कर नहीं आता। वह सनातन-धाम स्वयं प्रकाशमान है। जीवात्मा मेरा ही शाश्वत अंश है जो भूलवश शरीर को अपना मान लेता है और फिर संघर्ष करता रहता है। जैसे वायु गंध को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, ऐसे ही जीवात्मा मन, बुद्धि, स्वभाव आदि सूक्ष्म इन्द्रियों को ग्रहण करके दूसरे शरीर में चला है। इस भौतिक जगत में सब प्राणी क्षर अर्थात नाशवान होते हैं, परन्तु आध्यात्मिक जगत में सब प्राणी अक्षर अर्थात अमर होते हैं। लेकिन इस क्षर-अक्षर जगत से परे भी एक अविनाशी पुरुष है जो वेदों में 'पुरुषोत्तम' के नाम से विख्यात है और श्री कृष्ण जी अर्जुन को बताते हैं कि वह स्वयं ही 'पुरुषोत्तम' हैं।

1. **श्री भगवान बोले** - हे अर्जुन! कहा जाता है यह संसार एक अविनाशी और विचित्र पीपल का वृक्ष है, जिसका मूलस्त्रोत

अर्थात जड़ें ऊपर परमात्मा की ओर हैं; ब्रह्मा जी द्वारा रचित अनन्त ब्रह्माण्ड नीचे की ओर जाती शाखाएँ हैं तथा वेदमन्त्र जिसके पत्ते हैं; इस संसाररुपी वृक्ष को जो मनुष्य मूलस्त्रोत सहित अर्थात तत्त्व से जान लेता है, वही वास्तव में वेदों का ज्ञाता है।

2. उस संसार-रुपी वृक्ष की शाखाएँ ऊपर, नीचे व मध्य में सब ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के तीनों गुणों के जल से इनकी वृद्धि होती है; विषय-भोग इस वृक्ष की नई-नई डालियाँ व कोंपलें हैं। अहंकार, वासनाएँ व इच्छाएँ इस वृक्ष की नई जड़ें बनकर मनुष्यों को कर्मफल के बन्धन में बाँधकर ऊपर-नीचे सभी लोकों में फैली हुई हैं।

3. इस मायारूपी संसारवृक्ष के आदि, अंत, आधार अथवा स्वरूप का कुछ भी पता नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अहंकार, ममता, वासना-रुपी सुदृढ़ जड़ों वाले इस संसार-रुपी पीपल के वृक्ष को वैराग्य या विरक्ति के शस्त्र से काट डाले।

4. तत्पश्चात मनुष्य को उस परम-तत्व परमात्मा की खोज करनी चाहिए जिसे प्राप्त कर कोई भी फिर लौट कर संसार में नहीं आता अर्थात वह उसी आदिपुरुष की शरण ग्रहण कर लेता है जो अनादि काल से इस सृष्टि का सूत्रपात करने वाला रचियता और विस्तार करने वाला है।

5. जो मान और मोह से मुक्त हो चुके हैं, आसक्ति से होने वाले दोषों को जीत चुके हैं, सम्पूर्ण कामनाओं से और सुख-दुख के द्वंद्वों से

मुक्त हो चुके हैं, जो नित्य-निरंतर परमात्मा में लीन हैं - ऐसे ज्ञानी-भक्त उस अविनाशी परमधाम को प्राप्त करते हैं।

6. उस परमपद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न ही चन्द्रमा और न अग्नि ही; अर्थात वह सनातन-धाम स्वयं प्रकाशमान है। वही मेरा परम-धाम है जहाँ से प्राणी लौटकर इस भौतिक संसार में नहीं आते अर्थात पुनर्जन्म नहीं लेते।

7. इस संसार में जीवात्मा मेरा ही शाश्वत अंश है; जो प्रकृति में स्थित होकर मन और पाँच इन्द्रियों को आकर्षित करता है, चेतना प्रदान करता है; भूलवश शरीर को अपना मान लेता है और फिर संघर्ष करता रहता है।

8. जिस प्रकार वायु गंध को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, उसी प्रकार ही शरीर का स्वामी जीवात्मा जिस शरीर को छोड़ता है; वहां से मन, बुद्धि, स्वभाव आदि सूक्ष्म इन्द्रियों को ग्रहण करके दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

9. इस प्रकार दूसरा शरीर धारण करके यह जीवात्मा मन का आश्रय लेकर ही आँख, नाक, जीभ, कान और त्वचा की इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है।

10. अज्ञानी मनुष्य जीवात्मा को एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हुए नहीं देख पाते अथवा उसे प्रकृति के तीनों गुणों के अधीन विषयों का भोग करते हुए नहीं जान पाते; इस प्रक्रिया को केवल ज्ञान-चक्षुयों वाले साधक ही देख सकते हैं।

11. शुद्ध अंतःकरण वाले प्रयत्नशील योगीजन अपने हृदय में स्थित इस परम-तत्व जीवात्मा को भलीभांति जान जाते हैं, परन्तु जिनका अंतःकरण निर्मल नहीं है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं अनुभव कर पाते।

12. जो तेज सूर्य में स्थित होकर अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता हुआ चन्द्रमा और अग्नि में जाता है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो।

13. पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मैं ही अपनी शक्ति से सभी जीवों को धारण करता हूँ और मैं ही रसदायक चन्द्रमा बनकर सभी औषधियों व वनस्पतियों को रस प्रदान करके पुष्ट करता हूँ।

14. मैं ही सब प्राणियों के शरीर में रहने वाली जठराग्नि अर्थात वैश्वानर अग्नि हूँ, जो प्राण (निश्वास) और अपान (श्वास) वायु का संतुलन करके चारों प्रकार के अन्न अर्थात भक्ष्य (दांतों से चबाकर खाने योग्य - रोटी या चावल), भोज्य (निगलने योग्य या पेय - दूध या पानी), चौष्य (चूसने योग्य - गन्ना या आम) और लेह्य (चाटने योग्य - चटनी या मधु) को पचाता हूँ।

15. अंतर्यामी के रूप में मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण अर्थात हृदय में स्थित हूँ। स्मृति, ज्ञान तथा संशय-निवारण अर्थात शंका का समाधान भी मुझसे ही होता है। मैं ही सम्पूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य, वेदांतकर्त्ता और वेदों को जानने वाला भी हूँ।

16. इस भौतिक संसार में दो प्रकार के ही पुरुष हैं - क्षर अर्थात नाशवान और अक्षर अर्थात अविनाशी। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों को तो क्षर अर्थात नाशवान कहा जाता है और शरीर के

अंदर अपरिवर्तनशील जीवात्मा को अक्षर अर्थात अविनाशी कहा जाता है।

17. परन्तु इन दोनों से परे एक तीसरा विलक्षण परमपुरुष परमात्मा है जिसको अविनाशी ईश्वर कहा जाता है और वह तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है।

18. क्योंकि मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे हूँ और सर्वश्रेष्ठ हूँ; इसलिए इस जगत में और वेदों में 'पुरुषोत्तम' नाम से विख्यात हूँ।

19. हे भारत! जो ज्ञानवान मनुष्य संशयरहित होकर मुझको पुरुषोत्तम भगवान के रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ साधक सब प्रकार से मेरा ही भजन करता है।

20. हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिए इस अत्यंत रहस्यमय गूढ़-शास्त्र का ज्ञान दिया है। इसको जानकर प्रत्येक मनुष्य बुद्धिमान और कृतार्थ हो जाता है।

अध्याय 16

देवासुर सम्पदविभाग योग अथवा दैवी और आसुरी स्वभाव

भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझाते हैं कि इस जगत में इस संसार में दो तरह के ही मनुष्य हैं - दैवी और आसुरी। सात्विक दिव्य गुण देवतुल्य मनुष्यों के लक्षण हैं जैसे कि आत्मसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति, निंदा न करना, दया, लालच न करना, कोमलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शारीरिक पवित्रता अर्थात शुद्धि, किसी से वैर अर्थात शत्रु भाव न रखना। अहंकार, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरवाणी और अज्ञान आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों के लक्षण हैं। वे नहीं जानते कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है। वे कहते हैं कि संसार केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न हुआ है। वे लोगों का अहित करने वाले और संसार का विनाश करने वाले ही होते हैं। काम, क्रोध और लोभ-यह तीनों नरक के द्वार हैं और बुद्धिमान व्यक्ति को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। भगवान अर्जुन को आदेश देते हैं कि मनुष्य के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्णय में गीता शास्त्र ही अंतिम प्रमाण है।

1-2-3. **श्री भगवान बोले** - हे भारत! निर्भयता, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़-स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन अर्थात आत्मसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति, किसी की निंदा न करना, दया,

विषयों का लालच न करना, कोमलता, लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शारीरिक पवित्रता अर्थात शुद्धि, किसी से वैर अर्थात शत्रुभाव न रखना और किसी से मान-सम्मान की इच्छा न रखना आदि दिव्य-गुण, दैवी-सम्पदा या दैवी-प्रकृति को प्राप्त देवतुल्य मनुष्यों के लक्षण हैं।

4. हे पार्थ! अहंकार, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरवाणी और अज्ञान - यह सभी आसुरी सम्पदा को प्राप्त अर्थात आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों के लक्षण हैं।

5. दैवी सम्पदा मोक्ष प्रदान करने वाली कही गयी है जबकि आसुरी सम्पदा बंधनकारी मानी जाती है। हे पांडव! तुम शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी गुणों से युक्त हो।

6. **हे पार्थ**! इस संसार में दो तरह के ही मनुष्य हैं - दैवी और आसुरी। दैवी प्रकृति वालों के बारे में मैंने विस्तार से कह दिया है; अब तुम मुझसे आसुरी प्रकृति वालों के बारे में सुनो।

7. आसुरी प्रकृति वाले नहीं जानते कि किस काम में प्रवृत्त होना चाहिए और किस काम से निवृत्त होना चाहिए अर्थात उनको नहीं पता कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है। उनमें पवित्रता, श्रेष्ठ आचरण करना और सत्य बोलना इत्यादि नहीं होता है।

8. वे कहते हैं कि संसार असत्य, आधार रहित अर्थात मर्यादा रहित, बिना किसी ईश्वरीय कारण के अपने आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न हुआ है। उनके अनुसार काम ही

संसार की उत्पत्ति का कारण है और इसके सिवाय कोई भी दूसरा कारण नहीं है।

9. ऐसे नास्तिक दृष्टिकोण से जिनका आत्मज्ञान नष्ट हो चुका है; जो अल्प-बुद्धि, उग्र कर्म करने वाले, लोगों का अहित करने वाले होते हैं; और उनका जन्म संसार का विनाश करने के लिए ही होता है।

10. कभी न संतुष्ट होने वाले काम का आश्रय लेकर वे अहंकार, झूठी प्रतिष्ठा और मद में चूर होकर, अज्ञानता वश, मिथ्या सिद्धांतों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण करते हुए संसार में विचरते रहते हैं।

11. वे मरणकाल तक अपार चिंताओं से ग्रस्त और कामरूपी विषय भोगों को ही परम लक्ष्य मानते हुए ऐसा समझते हैं कि संसार में यह विषय भोग ही सब कुछ है।

12. वे सैंकड़ों बेड़ियों के जाल में बँधकर तथा काम और क्रोध के वशीभूत होकर इन्द्रिय-तृप्ति के लिए सदैव अवैध ढंग से धन संग्रह की चेष्टा करते रहते हैं।

13. आसुरी व्यक्ति निरंतर यही सोचता रहता है की आज मैंने यह प्राप्त कर लिया है और अब इस दूसरे मनोरथ को भी पूरा कर लूँगा। इस समय मेरे पास इतना सारा धन तो हो ही गया है परन्तु भविष्य में यह बढ़कर और भी अधिक हो जायेगा।

14. वह शत्रु तो मेरे द्वारा मारा जा चुका है और अब अन्य शत्रुओं को भी मैं मार दूंगा। अब मैं ही सर्व-समर्थ ईश्वर हूँ और मैं ही ऐश्वर्यों

का भोगने वाला हूँ। अब मैं ही सबसे बड़ा सिद्ध, बलवान और सुखी हूँ।

15. मैं बहुत धनवान हूँ और बड़े अच्छे परिवार वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और खूब मौज करूँगा। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति सदैव अज्ञान से मोहित रहते हैं।

16. अज्ञानतावश अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले लोग मोहजाल में बुरी तरह फंसकर इन्द्रिय-भोग में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं।

17. अपने आप को सबसे अधिक पूज्य व श्रेष्ठ मानने वाले; घमंडी, धन-संपत्ति और झूठी प्रतिष्ठा के मद में चूर रहने वाले, वे मनुष्य अविधिपूर्वक केवल दिखावे के लिए ही नाममात्र यज्ञादि करते हैं।

18. ऐसे आसुरी मनुष्य मिथ्या अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत होकर अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अंतर्यामी परमात्मा से द्वेष करते हैं और सबकी निंदा करते रहते हैं।

19. मैं उन द्वेष करने वाले क्रूर, महानीच, अधम और अपवित्र मनुष्यों को संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता रहता हूँ।

20. हे कुन्तीपुत्र! ऐसे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त करने की अपेक्षा जन्म-जन्मांतर तक आसुरी योनियों में घूमते रहते हैं और फिर

उससे भी अधिक अधम गति को प्राप्त होते हैं अर्थात और अधिक भयंकर नरकों में चले जाते हैं।

21. काम, क्रोध और लोभ - यह तीनों नरक के द्वार हैं और जीवात्मा का पतन करने वाले हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।

22. हे कुन्तीनन्दन! जो व्यक्ति नरक के इन तीनों द्वारों का त्याग करके अपने कल्याण के लिए आचरण करता है अर्थात अपने उद्धार की चेष्टा करता है; वह निश्चय ही परमगति अथवा मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

23. जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है; वह न तो सिद्धि को अर्थात अंतःकरण की शुद्धि को, न ही सुख-शांति को और न ही परमगति को प्राप्त कर पाता है।

24. मनुष्य के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्णय में गीता शास्त्र ही अंतिम प्रमाण है; अतः ऐसा जानकर तुम्हें केवल शास्त्रविधि से निर्धारित कर्त्तव्य-कर्म ही करना चाहिए।

अध्याय 17
श्रद्धात्रयविभाग योग अथवा
श्रद्धा के तीन विभाग

श्री भगवान कहते हैं कि सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव व संस्कार के अनुरूप होती है। सात्विक प्रकृति के मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं; राजसिक प्रकृति के मनुष्य राक्षसों का और तामसिक प्रकृति के मनुष्य भूत-प्रेतों का पूजन करते हैं। सात्विक भोजन आयु, सत्वगुण, बल, सुख और प्रसन्नता बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा हृदय को शक्ति देने वाले होते हैं। राजसिक भोजन कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे, रूखे और दाहकारक होते हैं; वह दुःख, शोक और रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। तामसिक भोजन बहुत समय पूर्व पकाया गया, सड़ा हुआ, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा, अपवित्र अर्थात जीव-हत्या करके उनके माँस-मज्जा आदि से बना होता है। जो यज्ञ कर्त्तव्य समझकर, निष्काम भाव से अर्थात बिना किसी फल की इच्छा से किया जाता है, वह यज्ञ सात्विक कहलाता है। मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा और निष्काम भाव से युक्त शरीर, वाणी और मन के तप को सात्विक तप कहते हैं।

1. **हे कृष्ण**! जो मनुष्य शास्त्रविधि का त्याग करके मनमाने ढंग से लेकिन श्रद्धापूर्वक अपने देवता का पूजन करते हैं, फिर उनकी निष्ठा कैसी है? क्या वह सात्विक है, राजसिक है अथवा तामसिक है?

2. **श्री भगवान बोले** - अर्जित गुणों के आधार पर मनुष्यों की स्वाभाविक श्रद्धा अर्थात निष्ठा तीन प्रकार की हो सकती है - सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। तुम अब उनके विषय में मुझसे सुनो।

3. **हे भारत**! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अंतःकरण अर्थात स्वभाव व संस्कार के अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धा-भाव वाला प्राणी होता है; अतः जो मनुष्य जैसी श्रद्धा वाला होता है, वही उसका स्वरूप बन जाता है।

4. सात्विक प्रकृति के मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं; राजसिक प्रकृति के मनुष्य यक्षों तथा राक्षसों का पूजन करते हैं; और तामसिक प्रकृति के मनुष्य भूत-प्रेतों का पूजन करते हैं।

5-6. जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं; जो दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और बल से युक्त हैं; जो शरीर में स्थित पंचभूतों को तथा अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कष्ट देने वाले अविवेकी लोग हैं, उन अज्ञानियों को तुम आसुरी स्वभाव वाले जानो।

7. भोजन भी सबको स्वभावनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। उसी प्रकार से यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। अब उनके इस भेद को तुम मुझसे सुनो।

8. जो भोजन आयु, सत्त्वगुण, बल, सुख और प्रसन्नता बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा हृदय को शक्ति देने वाले होते हैं, वह सात्विक मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

9. जो भोजन अत्यधिक कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे, रूखे और दाहकारक होते हैं; वह दुःख, शोक और रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं तथा राजसिक मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

10. जो भोजन बहुत समय पूर्व पकाया गया हो या सड़ा हुआ हो, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा हो तथा जो अति अपवित्र या अस्पृश्य हो अर्थात माँस-मज्जा या रज-वीर्य से बना हो; ऐसा आहार आसुरी मनुष्यों को ही प्रिय होता है।

11. जो यज्ञ, शास्त्र के निर्देशानुसार, विधिपूर्वक, कर्त्तव्य समझकर, निष्काम भाव से अर्थात बिना किसी फल की इच्छा से किया जाता है, वह यज्ञ सात्विक कहलाता है।

12. परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ किसी फल की इच्छा से अथवा दम्भ व दिखावे के लिए जाता है, उस यज्ञ को तुम राजसिक समझो।

13. जो यज्ञ बिना किसी शास्त्रविधि, अन्नदान, मंत्रोच्चारण, दक्षिणा और श्रद्धा के किया जाता है, उस यज्ञ को तामसिक कहते हैं।

14. देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी, महापुरुषों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन और अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप कहा जाता है।

15. सदैव सत्य, मधुर, हितकारी वचन बोलना, जो दूसरों को क्षुब्द अर्थात खिन्न या दुखी न करें; उद्वेग अर्थात व्याकुलता, भय, चिंता व अशांति पैदा न करें; वेद-शास्त्रों का अध्ययन और परमात्मा के नाम का जप-अभ्यास - यह सब वाणी का तप कहे जाते हैं।

16. मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन या मननशीलता, मन पर नियंत्रण और सदैव शुद्ध भाव या पवित्र विचार बनाये रखना मन का तप कहा जाता है।

17. मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा और निष्काम भाव से युक्त तीन प्रकार के तप को अर्थात शरीर, वाणी और मन के तप को सात्विक तप कहते हैं।

18. जो तप दूसरों से सत्कार, मान और पूजा करवाने के लिए और केवल दिखावा करने के भाव से किया जाता है, ऐसा तप इस लोक में अनिश्चित और क्षणिक फल देने वाला होता है और राजसिक तप कहलाता है।

19. जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, अपने आप को पीड़ा और कष्ट देकर अथवा दूसरों को कष्ट, हानि या क्षति पहुँचाने के लिए किया जाता है, वह तप तामसिक कहा जाता है।

20. **दान देना हमारा कर्त्तव्य है** - ऐसे भाव से जो दान, देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारी को अर्थात निष्काम भाव से दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है।

21. किन्तु जो दान प्रतिफल की इच्छा से अथवा फल प्राप्ति का उद्देश्य बनाकर, अनिच्छापूर्वक या पश्चाताप के साथ बिना किसी श्रद्धा से दिया जाता है, वह दान राजसिक कहलाता है।

22. जो दान देश, काल और पात्र का विचार किये बिना, अथवा किसी सम्मान या सत्कार के बिना, अनादर या तिरस्कार करके कुपात्र को दिया जाता है, वह दान तामसिक कहलाता है।

23. सृष्टि के आदिकाल से - ॐ, तत, सत - यह तीन शब्द परमात्मा के नाम को सूचित करते हैं या संकेत देते हैं। उसी परमात्मा से वेदों, यज्ञों और ब्राह्मण विद्वानों की रचना हुई है।

24. इसलिए परब्रह्म परमात्मा को जानने वाले ब्रह्मवेत्ता शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ, दान और तप की समस्त वैदिक क्रियाओं का शुभारम्भ सदैव 'ॐ' के उच्चारण के साथ ही करते हैं।

25. मोक्ष चाहने वाले मनुष्य निष्काम भाव से अनेक प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं 'तत' शब्द का उच्चारण करके संपन्न करते हैं।

26. हे पार्थ! 'सत्' शब्द परमात्मा के नाम, सत्ता, अस्तित्व व श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है। इसी तरह किसी भी प्रशंसनीय या शुभ कर्म के साथ भी 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।

27. यज्ञ, तप और दान में श्रद्धा या निष्ठा तथा परब्रह्म परमात्मा के लिए किये जाने वाले निष्काम कर्म को भी 'सत्' कहा जाता है।

28. हे पार्थ! यज्ञ, दान, तप आदि जो भी कर्म बिना श्रद्धा के किये जाते हैं, वह 'असत' कहलाते हैं और ऐसे 'असत' कर्मों का न तो इस लोक में और न ही परलोक में कोई प्रयोजन रह जाता है; अर्थात 'असत' कर्म सदैव व्यर्थ जाते हैं।

अध्याय 18
मोक्षसन्यास योग अथवा सन्यास की सिद्धि

श्री भगवान अर्जुन को गीता का अति महत्त्वपूर्ण साराँश बताते हुए कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप आदि सारे कर्मों को किसी प्रकार की आसक्ति या फल की इच्छा के बिना कर्त्तव्य मानकर संपन्न किया जाना चाहिए। जो मनुष्य समस्त कर्मफलों का परित्याग कर देता है, वह वास्तव में त्यागी कहलाता है। जो मनुष्य केवल अपने आपको ही कर्त्ता देखता है; वह अल्प-बुद्धि वाला व्यक्ति ठीक नहीं देखता। जो कर्म शास्त्र द्वारा निर्धारित हो व फल की इच्छा से रहित हो - ऐसा कर्म सात्विक कहा जाता है। परन्तु जो कर्म फल की कामना से या अहंकार सहित संपन्न किया जाता है, वह कर्म राजसिक कहलाता है। जो कर्म परिणाम, विनाश और हिंसा को न विचार करके केवल मोहवश किया जाता है - वह कर्म तामसिक कहलाता है। सात्विक कर्त्ता आसक्ति और कर्त्ता के अभिमान से मुक्त, धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य की सफलता और असफलता दोनों में ही अविचलित रहता है। राजसिक कर्त्ता अत्यधिक आसक्त, कर्मफल को भोगने की इच्छा रखने वाला; लोभी, हिंसक तथा हर्ष-शोक से विचलित होने वाला होता है। तामसिक कर्त्ता शास्त्रों के आदेशों को न मानने वाला, असभ्य, हठी, कपटी, धूर्त, आलसी, सदैव दुखी और दीर्घसूत्री होता है। इस संसार में कोई भी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। दोषयुक्त होने पर भी अपने स्वाभाविक सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। श्री भगवान अर्जुन को आदेश देते हैं कि तुम सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग करके केवल मेरी शरण में आ

जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। चिंता मत करो। अन्त में भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस अत्यन्त गोपनीय व अलौकिक ज्ञान की महिमा बतलाते हैं कि 'गीता मे परमो गुरुः' अर्थात गीता मेरा परम गुरु है!

1. **अर्जुन ने कहा** - हे महाबाहो! हे हृषिकेश! हे केशिनिषूदन! मैं सन्यास और त्याग के तत्व तथा इनके भेद को अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

2-3. **श्री भगवान बोले** - कई विद्वान् सकाम कर्मों के त्याग को सन्यास समझते हैं और कई अनुभवी बुद्धिमान सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को ही त्याग कहते हैं। कई महान चिंतक कहते हैं समस्त प्रकार के सकाम कर्मों को दोषपूर्ण समझ कर त्याग देना चाहिए। किन्तु कई विवेकी महात्मा मानते हैं कि यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों को कभी नहीं त्यागना चाहिए।

4. हे भरत श्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में तुम मेरा निर्णय सुनो; क्योंकि हे पुरुष व्याघ्र! शास्त्रों में त्याग भी तीन प्रकार का अर्थात सात्विक, राजसिक और तामसिक बताया गया है।

5. यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए; बल्कि उन्हें अवश्य संपन्न करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप आदि कर्म मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं।

6. **हे पार्थ**! यज्ञ, दान और तप आदि सारे कर्मों को किसी प्रकार की आसक्ति या फल की इच्छा के बिना कर्त्तव्य मानकर संपन्न किया जाना चाहिए; यही मेरा निश्चित, श्रेष्ठ, दृढ़ व अंतिम मत है।

7. नियत कर्त्तव्य-कर्म का त्याग करना तो कदापि उचित नहीं होता है। अतः शास्त्र-विधि से निश्चित किये गए कर्म का मोहवश या भ्रमित होकर त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है।

8. जो मनुष्य नीयत कर्मों को शारीरिक कष्ट अथवा कठिन परिश्रम के भय से त्याग देता है, तो वह राजसिक त्याग कहलाता है और मनुष्य को इस त्याग का कोई सार्थक फल भी नहीं मिलता है।

9. हे अर्जुन! जब मनुष्य नीयत कर्म को कर्त्तव्य मानकर और कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके करता है तो वही त्याग सात्विक कहलाता है।

10. जो मनुष्य अशुभ या अकुशल कर्म से घृणा नहीं करता तथा शुभ या कुशल कर्म में लिप्त नहीं होता; वही सत्व-गुण से संपन्न, संशय-रहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी कहलाता है।

11. देहधारी मनुष्य के लिए सम्पूर्ण रूप से सभी कर्मों का त्याग कर पाना संभव नहीं है; लेकिन जो समस्त कर्मफलों का परित्याग कर देता है, वह वास्तव में त्यागी कहलाता है।

12. जो मनुष्य कर्मफल का त्याग नहीं करते उनको मरने के बाद तीन प्रकार का फल मिलता है - अच्छा, बुरा या मिश्रित। लेकिन कर्मफल का त्याग करने वाले सन्यासी को ऐसे फल का सुख - दुःख नहीं भोगना पड़ता।

13. हे महाबाहो! वेदांत के सांख्य सिद्धांत के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि या सफलता के लिए पांच कारण बताये गए हैं। इसे तुम मुझसे भलीभाँति समझो।

14. अधिष्ठान अर्थात कर्म का स्थान या स्थूल शरीर, विभिन्न इन्द्रियां, अनेक प्रकार की चेष्टाएँ अथवा इन्द्रियों के प्रयास, शरीर के भीतर जीवात्मा अर्थात कर्त्ता और परमात्मा - कर्म की सिद्धि या पूर्ति के लिए यह पाँच कारण हैं।

15. मनुष्य अपने शरीर, मन या वाणी से जो भी उचित अर्थात शास्त्रविहित या अनुचित अर्थात शास्त्रविरुद्ध कर्म करता है, वह इन पाँच कारणों के फल स्वरूप ही होता है।

16. अतः जो मनुष्य इन पाँच कारणों के होने पर भी केवल अपने आपको ही एकमात्र कर्त्ता देखता है; वह दुष्ट-बुद्धि वाला व्यक्ति ठीक नहीं देखता क्योंकि वह कुबुद्धि विवेक या विचार को कोई महत्त्व नहीं देता है।

17. जिस मनुष्य में अहंकार अर्थात 'मैं कर्त्ता हूँ' का भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मफल में आसक्त या लिप्त नहीं है; वह युद्ध में इन सभी लोगों को मारकर भी वास्तव में न तो किसी को मारता है और न ही स्वयं अपने कर्मफल से बंधता है।

18. कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञाता - यह तीनों कारण कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। इसी प्रकार करण अर्थात इन्द्रियां, कर्म अर्थात क्रिया और कर्त्ता - इन तीनों के सहयोग से कर्म पूरा होता है और इस तरह मनुष्य का कर्मसंग्रह बनता जाता है।

19. वेदांत के साँख्य शास्त्र के अनुसार प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार ही ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता के तीन-तीन भेद हैं। उनको भी तुम मुझसे यथार्थ रूप में सुनो।

20. जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सभी प्रकार के अलग-अलग और अनंत जीवों में केवल एक ही अविभक्त, अखंड और अविनाशी परमात्मा को समभाव से अर्थात बिना भेद-भाव के देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्विक समझो।

21. परन्तु जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों के विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीव देखता है और उनके अलग-अलग अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक जानो।

22. किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य एक शरीर को ही या एक बेकार कार्य को ही अति महत्त्वपूर्ण मानकर उसमें आसक्त हो जाता है - ऐसा ज्ञान तुच्छ, युक्तिरहित और वास्तविकता से दूर होता है और वह तामसिक कहलाता है।

23. जो कर्म शास्त्रविधि से नीयत या निर्धारित हो; कर्त्ता के अभिमान से, आसक्ति से व फल की इच्छा से रहित हो; बिना राग-द्वेष के किया गया हो - ऐसा कर्म सात्विक कहा जाता है।

24. परन्तु जो कर्म भोगों की इच्छा से अर्थात फल की कामना से, या अहंकार सहित बहुत परिश्रम से संपन्न किया जाता है, वह कर्म राजसिक कहलाता है।

25. जो कर्म परिणाम, विनाश, हिंसा और अपने सामर्थ्य व क्षमता को न विचार करके, केवल मोहवश या भ्रमित होकर किया जाता है; वह कर्म तामसिक कहलाता है।

26. जो कर्त्ता आसक्ति और कर्त्ता के अभिमान से मुक्त है; धैर्य और उत्साह से युक्त है; कार्य की सफलता और असफलता दोनों में ही समभाव अर्थात अविचलित या बिना विकार के रहता है; वही कर्त्ता सात्विक कहा जाता है।

27. जो कर्त्ता अत्यधिक आसक्त, कर्मफल को भोगने की इच्छा रखने वाला; लोभी, हिंसक प्रवृत्ति वाला; अपवित्र विचारों वाला या अशुद्ध आचरण वाला तथा हर्ष-शोक से विचलित होने वाला है, वह कर्त्ता राजसिक कहा जाता है।

28. जो कर्त्ता शास्त्रों के आदेशों को न मानने वाला; असभ्य, हठी, कपटी, धूर्त, उपकारी का अपकार करने वाला या अपमान करने वाला; आलसी, दुखी, उदास और दीर्घसूत्री है; ऐसा कर्त्ता तामसिक कहा जाता है।

29. हे धनंजय! अब तुम प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार मुझसे बुद्धि और धैर्य के भी तीन प्रकार के अलग-अलग भेद विस्तारपूर्वक सुनो।

30. हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को, तथा बंधन और मोक्ष को भलीभाँति जानती है, वह बुद्धि सतोगुणी कहलाती है।

31. हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को; तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भी ठीक प्रकार से नहीं जान पाता, उस बुद्धि को राजसिक कहा जाता है।

32. हे पार्थ! जो बुद्धि तमोगुण के वशीभूत होकर अज्ञान के अंधकार में डूबकर धर्म को अधर्म, और अधर्म को धर्म मानकर सदैव विपरीत दिशा में चलती है, वह बुद्धि तामसिक कहलाती है।

33. हे पार्थ! जो धृति या धैर्य धारण-शक्ति अथवा संकल्प-शक्ति समभाव योग में स्थित है, जिसके द्वारा मनुष्य केवल परमात्मा को ही पाने के ध्येय से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियायों पर संयम रखता है, वह धृति सात्विक कहलाती है।

34. हे पार्थ! जिस धृति या धारण-शक्ति अथवा संकल्प-शक्ति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को अत्यंत आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति या धारण शक्ति राजसिक कहलाती है।

35. हे पार्थ! जिस धृति, धारण-शक्ति या संकल्प-शक्ति के द्वारा दुष्ट बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, चिंता, दुःख और घमंड को भी धारण किये रहता है अर्थात छोड़ नहीं पाता, ऐसी धृति तामसिक कहलाती है।

36. हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! अब मुझसे तुम तीन प्रकार के सुखों के बारे में भी सुनो, जिसमें साधक को अभ्यास से या आध्यात्मिक साधना में रमण करने से सुख प्राप्त होता है और सभी दुखों का अंत हो जाता है।

37. ऐसा सुख जिससे आत्मबुद्धि जागृत होकर प्रसन्नता बढ़ती है, जो प्रारम्भ में तो विष की तरह और परिणाम में अमृत की तरह होता है, वह सुख सात्विक कहलाता है।

38. जो सुख इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है; और जो प्रारम्भ में तो अमृत-तुल्य और परिणाम में विषतुल्य होता है, ऐसा सुख राजसिक कहलाता है।

39. जो सुख निद्रा, आलस्य, प्रमाद अर्थात लापरवाही व मोह-ममता से उत्पन्न होता है; जो प्रारम्भ से लेकर अंत तक अपने-आप को भ्रमित करने वाला होता है; ऐसा सुख तामसिक कहा जाता है।

40. पृथ्वी, स्वर्ग व देवलोक में कहीं भी ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त हो।

41. हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - इन चार वर्णों में कर्म का विभाजन भी मनुष्य के स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार ही किया गया है।

42. मन को शांत रखना, इन्द्रियों का दमन करना या वश में रखना, तपस्या, पवित्रता, सहिष्णुता या क्षमा करना, सरलता, सहजता, सत्यवादिता, ज्ञान प्राप्त करना, विज्ञान युक्त या विवेकपूर्ण सोच रखना और आस्तिक भाव रखना - यह सब ब्राह्मण के गुण हैं।

43. शूरवीरता, तेज, शक्ति, धैर्य रखना, दृढ़-संकल्प, दक्षता, योग्यता, चतुराई, युद्ध से न भागना, दान देना या उदारता, प्रजा की रक्षा करना; शासन करना और नेतृत्व प्रदान करना - यह सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

44. कृषि या खेती करना, गौरक्षा या गाय पालन करना और ईमानदारी से शुद्ध व्यापार करना - यह सब वैश्य के स्वाभाविक

कर्म हैं। चारों वर्णों की श्रमपूर्वक व आज्ञा पूर्वक सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

45. मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में प्रीतिपूर्वक लगा हुआ या तत्परता से संलग्न रहते हुए परम-सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे अब तुम मुझसे सुनो।

46. जिस परब्रह्म परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है; उसी परमात्मा का अपने कर्म के द्वारा पूजन करके प्रत्येक मनुष्य परम-सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

47. अपना वर्ण अथवा स्वधर्म गुणरहित या त्रुटिपूर्ण हो तो भी मनुष्य को सहज स्वभाव से उसका पालन करना चाहिए; यह किसी अन्य वर्ण के अथवा परधर्म के अस्वाभाविक कार्य का अच्छी तरह से अनुकरण करने से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभाव से नीयत किये गए वर्ण-कर्म अर्थात निर्धारित स्वधर्म को करते हुए मनुष्य कभी भी पाप को प्राप्त नहीं होता।

48. हे कुंती पुत्र! दोषयुक्त होने पर भी अपने स्वाभाविक सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएँ से आग ढकी रहती है, वैसे ही सभी कर्म-प्रयास किसी न किसी दोष से युक्त रहते हैं।

49. जो मनुष्य आसक्ति-रहित, कामना-रहित और जितेन्द्रिय है, वह साँख्य योग या सन्यास योग के द्वारा सभी सकाम कर्मों का त्याग

करके परम निष्कर्म अथात अकर्म की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

50. हे कौन्तेय! निष्कर्म की सर्वोच्च सिद्धि को प्राप्त होकर साधक किस प्रकार परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है जो कि ज्ञान की पराकाष्ठा है अथवा परानिष्ठा कही जाती है; उसे भी तुम मुझसे संक्षेप में समझ लो।

51-53 जो मनुष्य विशुद्ध या सतोगुणी बुद्धि से युक्त है; धैर्यपूर्वक व दृढ़संकल्प से आत्मसंयम करता है; रूप, गंध, रस, स्पर्श और शब्दादि विषयों का त्याग कर देता है; आसक्ति तथा घृणा को छोड़ देता है; एकांत स्थान में रहता है; नियमित और सात्विक भोजन करता है; वाणी, शरीर तथा मन को वश में रखता है; वैराग्य का आश्रय लेकर निरंतर ध्यानयोग में लीन रहता है; अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध का त्याग कर देता है; भौतिक वस्तुओं के संग्रह से विरक्त हो जाता है; वह मोह-ममता रहित साधक शांत होकर ब्रह्म-प्राप्ति का योग्य पात्र बन जाता है।

54. वह ब्रह्मस्वरूप और प्रसन्नचित्त साधक न तो किसी के लिए शोक करता है और न ही किसी वस्तु की आकांक्षा करता है। सम्पूर्ण प्राणियों में समभाव रखने वाला वह साधक मेरी पराभक्ति अर्थात दिव्यभक्ति या परमशुद्ध भक्ति को प्राप्त कर लेता है।

55. परम-श्रद्धा और पराभक्ति के द्वारा ही मुझे तत्व से जाना जा सकता है कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ? मेरा अनन्य भक्त तत्व से मुझे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात मेरे साथ उसका भिन्नता का भाव सर्वथा मिट जाता है।

56. मेरा आश्रय लेने वाला अनन्य भक्त एक सच्चे कर्मयोगी की तरह मेरे संरक्षण में रहकर सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद अर्थात मेरे परम-धाम को प्राप्त कर लेता है।

57. परमश्रद्धा और भक्तिपूर्वक स्वयं को और अपने सम्पूर्ण कर्मों को सच्चे मन से मुझे अपना परम-लक्ष्य मानकर अर्पण कर दो। बुद्धियोग या समभाव का आश्रय लेकर अपने चित्त को निरंतर मुझमें ही लगाओ; अर्थात संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करके मेरे साथ ही अटल सम्बन्ध बना लो।

58. पूर्णतया मुझमें चित्त लगाकर तुम मेरी कृपा से सभी विघ्न बाधाओं को अर्थात शोक-दुःख आदि को पार कर जाओगे और यदि तुम अहंकार वश मेरे इन वचनों को नहीं सुनोगे तो तुम्हारा पतन अर्थात विनाश हो जायेगा।

59. यदि अहंकार वश तुम ऐसा मान रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारा यह निश्चय या संकल्प मिथ्या होगा क्योंकि तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा ही देगा।

60. हे कुन्तीपुत्र! प्रकृति के नियम के अनुसार तुम अपने स्वाभाविक कर्म अथवा संस्कार-रुपी बंधनों से बंधे हुए हो; अतः भ्रमवश जिस युद्ध को तुम नहीं करना चाहते, उसे भी तुम क्षात्र-तेज अर्थात प्राकृतिक स्वभाव से विवश या बाध्य होकर अवश्य करोगे।

61. हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में अर्थात अन्तःकरण में

स्थित रहता है और अपनी माया के द्वारा शरीर-रुपी यंत्र पर आरूढ़ हुए सभी जीवों को उनके पूर्वजन्मों के कर्मजनित स्वभाव के अनुसार भ्रमण कराता रहता है।

62. हे अर्जुन! तुम सर्वभाव से उस ईश्वर की शरण में ही जाओ। उसकी कृपा से तुम परम-शांति और सनातनधाम अर्थात दिव्य परमपद को प्राप्त कर लोगे।

63. यह ज्ञान गूढ़ से भी गूढ़, गहरे से भी गहरा, गुह्य से भी गुह्यतर, गुप्त से भी गुप्त अर्थात गोपनीय से भी अत्यंत गोपनीय है जो मैंने तुमसे कह दिया है। अब इस पर तुम अच्छी तरह से विचार करके और सोच समझ कर - जैसा चाहो, वैसा करो।

64. मेरे सबसे अत्यंत गोपनीय अर्थात परम रहस्मय दिव्य वचनों को तुम एक बार फिर से सुनो। क्योंकि तुम मेरे अत्यंत प्रिय मित्र हो, इसलिए तुम्हारे हित की बात मैं तुम्हें फिर से कहूँगा।

65. हे अर्जुन! तुम मुझ परमात्मा में अपना मन लगाओ, मेरे अनन्य भक्त बनो, नित्य मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो, ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे - मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यंत प्रिय मित्र हो।

66. सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग करके तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। चिंता मत करो।

67. यह अति गोपनीय व रहस्यमय ज्ञान उस व्यक्ति को कभी मत कहना जो भगवान की भक्ति का विरोधी हो; जो तप न करता

हो; जो अहंकार वश सुनना न चाहता हो; जिसकी मुझमें श्रद्धा न हो अथवा जो मेरे प्रति द्वेष रखकर सदैव दोषदृष्टि रखता हो।

68. जो भी मनुष्य मेरे इस परम गोपनीय ज्ञान अथवा गीता-ग्रन्थ का मेरे भक्तों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा; वह मेरी सर्वोत्तम दिव्यभक्ति करता हुआ निस्संदेह मुझे ही प्राप्त होगा।

69. उससे बढ़कर मेरा अत्यंत प्रिय कार्य करने वाला कोई भी मनुष्य नहीं होगा और भविष्य में भी मेरे लिए उससे अधिक प्रिय इस संसार में कोई नहीं होगा।

70. जो भी मनुष्य हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित हो जाऊँगा - ऐसा मेरा मत है।

71. जो भी मनुष्य श्रद्धापूर्वक और बिना किसी दोषदृष्टि या आलोचना के इस गीताग्रन्थ को सुन भी लेगा; वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान महानुभावों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा।

72. **हे पार्थ**! क्या तुमने एकाग्र चित्त होकर इस ज्ञान को सुना? हे धनंजय! क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न भ्रम अब पूरी तरह से नष्ट हो गया है?

73. **अर्जुन बोले** - हे अच्युत (जो कभी नहीं चूकते या अटल रहते हैं) भगवान कृष्ण! आप की कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे मेरी स्मरण-शक्ति वापिस मिल गयी है। अब मैं संशय-रहित

होकर दृढ़ता के साथ युद्ध करने के लिए खड़ा हूँ और अब मैं आपके आदेश का पालन करूंगा।

74. **संजय बोले** - हे राजन! इस प्रकार मैंने भगवान वासुदेव और महात्मा अर्जुन क़ा यह अद्भुत, विलक्षण और रोमाँचकारी संवाद सुना।

75. **संजय बोले** - ऋषि वेदव्यास जी की कृपा से दिव्यदृष्टि पाकर मैंने स्वयं साक्षात योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण जी से इस परम योग-ग्रन्थ गीता को प्रत्यक्ष देखा और सुना है।

76. **हे राजन!** भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र और अद्भुत संवाद को याद कर-कर के मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

77. **हे राजन!** भगवान श्री कृष्ण जी के उस अत्यंत विलक्षण, अद्भुत विराट रूप को भी याद कर-कर के मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूँ।

78. **संजय ने कहा** - 'जहाँ योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण जी हैं और जहाँ गांडीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहां ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है - ऐसा मेरा मत है।'

'ॐ तत सत इति'

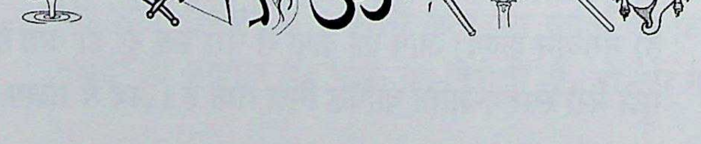

"हरिओम आरती"

{1} ओम हरि ओम हरे, प्रभु ओम हरि ओम हरे!
सच्चिदानंद सर्वेश्वर, परमपिता परमेश्वर, सब पर कृपा करे,
ओम हरि ओम हरे!

{2} सर्वशक्तिमान परमात्मा, तुम सर्वान्तर्यामी, प्रभु तुम सर्वान्तर्यामी,
अनादि अनंत अनुपम, तुम सब के स्वामी, ओम हरि ओम हरे!

{3} ब्रह्मा स्रष्टा सनातन, सर्वाधार प्राणपति, प्रभु सर्वव्यापक प्राणपति,
विष्णु विराट दयामय, विनाशक शिवशक्ति, ओम हरि ओम हरे!

{4} सरस्वती स्नेहिल माँ तुम, अलौकिक लक्ष्मी माता, प्रभु दिव्य लक्ष्मी माता,
दुर्गा की अद्वितीय शक्ति, गणपति कार्तिकेय ध्याता, ओम हरि ओम हरे!

{5} राम, कृष्ण, हनुमान तुम मेरे, प्रभु महाबीर तुम मेरे,
बलबुद्धि तेज बढ़ाओ, संकट दूर भगाओ, शरण आया में तेरे,
ओम हरि ओम हरे!

{6} जैन, बुद्ध, नानक का उपदेश सुनाओ, अहिंसा, करुणा सिखाओ,
सत्य अस्तेय सिखाओ, द्वार आया में तेरे, ओम हरि ओम हरे!

{7} माता पिता तुम मेरे, बन्धु सखा तुम मेरे, शरण जाऊँ में किसकी?
प्रभु शरण जाऊँ में किसकी?
धर्म बिन और न दूजा, परमो गुरु बिन और न दूजा, आस करूँ में जिसकी,
ओम हरि ओम हरे!

{8} जो ध्यावे सदबुद्धि पावे, प्रेम मिले मन का, प्रभु प्रेम मिले मन का,
सुख-शांति घर आवे,
स्वास्थ्य मिले तन का, ओम हरि ओम हरे!

{9} तन, मन, धन, सब कुछ है तेरा, प्रभु सब कुछ है तेरा,
तेरा तुझको अर्पण, क्या लागे मेरा, ओम हरि ओम हरे!

{10} काम क्रोध मिटाओ, लोभ मोह भगाओ, अहंकार हरो देवा,
प्रभु पाप हरो देवा!
श्रद्धा-भक्ति बढ़ाओ, क्षमा शुचिता बढ़ाओ, मानव की सेवा,
ओम हरि ओम हरे!

{11} शौर्य धैर्य बढ़ाओ, संयम त्याग बढ़ाओ, शुभ काम अर्थ दे दो,
प्रभु शुभ काम अर्थ दे दो,
राष्ट्र-भक्त बनाओ, निर्भय सशक्त बनाओ, प्रभु धर्म मोक्ष दे दो,
ओम हरि ओम हरे!

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता - स्वामी रामसुखदास, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. श्रीमद्भगवद्गीता - जयदयाल गोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर।
3. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप - स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट, जुहू, मुंबई।
4. वैदिक गीता - स्वामी आत्मानंद जी सरस्वती, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल।
5. भगवद्गीता - श्रीश्री परमहंस योगानंद सोसाइटी, दक्षिणेश्वर, कोलकत्ता।
6. गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली।
7. भगवद्गीता - डा. राधाकृष्णन, हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्सज इंडिया, नई दिल्ली।
8. भगवद्गीता - मोहनदास करमचंद गाँधी, सनातन धर्म फाउंडेशन, टोरंटो, कनाडा।
9. श्रीमद्भगवद्गीता - रामानंद प्रसाद, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्सज, नई दिल्ली।
10. श्रीमद्भगवद्गीता - मनोज पब्लिकेशन, चांदनी चौक, दिल्ली।
11. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप सार - पुरुषोत्तम दास, रेखा प्रिंटर्स, ओखला, नई दिल्ली।
12. श्री गोविन्द गीता - डा. कमल परवाल, अनुराधा प्रकाशन, जनकपुरी, नई दिल्ली।

हनुमान चालीसा

श्रीगुरु चरन सरोज रज, निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनऊं रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि।।
बुद्धिहीन तनु जानिके, सुमिरौं पवन-कुमार।
बल बुद्धि बिद्या देहु मोहिं, हरहु कलेस बिकार।।

जय हनुमान ज्ञान गुन सागर। जय कपीस तिहुं लोक उजागर।।
रामदूत अतुलित बल धामा। अंजनि-पुत्र पवनसुत नामा।।
महाबीर बिक्रम बजरंगी। कुमति निवार सुमति के संगी।।
कंचन बरन बिराज सुबेसा। कानन कुंडल कुंचित केसा।।
हाथ बज्र औ ध्वजा बिराजै। कांधे मूंज जनेऊ साजै।
संकर सुवन केसरीनंदन। तेज प्रताप महा जग बन्दन।।
विद्यावान गुनी अति .चातुर। राम काज करिबे को आतुर।।
प्रभु चरित्र सुनिबे को रसिया। राम लखन सीता मन बसिया।।
सूक्ष्म रूप धरि सियहिं दिखावा। बिकट रूप धरि लंक जरावा।।
भीम रूप धरि असुर संहारे। रामचंद्र के काज संवारे।।
लाय सजीवन लखन जियाये। श्रीरघुबीर हरषि उर लाये।।
रघुपति कीन्ही बहुत बड़ाई। तुम मम प्रिय भरतहि सम भाई।।
सहस बदन तुम्हरो जस गावैं। अस कहि श्रीपति कंठ लगावैं।।
सनकादिक ब्रह्मादि मुनीसा। नारद सारद सहित अहीसा।।
जम कुबेर दिगपाल जहां ते। कबि कोबिद कहि सके कहां ते।।
तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा। राम मिलाय राज पद दीन्हा।।
तुम्हरो मंत्र बिभीषन माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना।।
जुग सहस्र जोजन पर भानू। लील्यो ताहि मधुर फल जानू।।
प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं। जलधि लांघि गये अचरज नाहीं।।
दुर्गम काज जगत के जेते। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते।।

राम दुआरे तुम रखवारे। होत न आज्ञा बिनु पैसारे।।
सब सुख लहै तुम्हारी सरना। तुम रक्षक काहू को डर ना।।
आपन तेज सम्हारो आपै। तीनों लोक हांक तें कांपै।।
भूत पिसाच निकट नहिं आवै। महाबीर जब नाम सुनावै।।
नासै रोग हरै सब पीरा। जपत निरंतर हनुमत बीरा।।
संकट तें हनुमान छुड़ावै। मन क्रम बचन ध्यान जो लावै।।
सब पर राम तपस्वी राजा। तिन के काज सकल तुम साजा।
और मनोरथ जो कोई लावै। सोइ अमित जीवन फल पावै।।
चारों जुग परताप तुम्हारा। है परसिद्ध जगत उजियारा।।
साधु-संत के तुम रखवारे। असुर निकंदन राम दुलारे।।
अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता। अस बर दीन जानकी माता।।
राम रसायन तुम्हरे पासा। सदा रहो रघुपति के दासा।।
तुम्हरे भजन राम को पावै। जनम-जनम के दुख बिसरावै।।
अन्तकाल रघुबर पुर जाई। जहां जन्म हरि-भक्त कहाई।।
और देवता चित्त न धरई। हनुमत सेइ सर्ब सुख करई।।
संकट कटै मिटै सब पीरा। जो सुमिरै हनुमत बलबीरा।।
जै जै जै हनुमान गोसाईं। कृपा करहु गुरुदेव की नाईं।।
जो सत बार पाठ कर कोई। छूटहि बंदि महा सुख होई।।
जो यह पढ़ै हनुमान चालीसा। होय सिद्धि साखी गौरीसा।।
तुलसीदास सदा हरि चेरा। कीजै नाथ हृदय मंह डेरा।।

पवन तनय संकट हरन, मंगल मूरति रूप।
राम लखन सीता सहित, हृदय बसहु सुर भूप।।

सर्वाधिकार

एवम्

सादर प्रस्तुति :-

डॉ.राजेश कुमार भाटिया

(आचार्य राजेश कृष्ण भारती)

MBBS (GOMCO, Patiala, Punjab, India)
MS (Public Health Administration)
California State University, CA, USA), PhD (Florida, USA)

अध्यक्ष - "हरिओम संस्थान", नई दिल्ली, भारत।

(HARIOM:- Human Awakening, Religious Integration, One Mankind)

फोन : भारत : +91-9999501560,

अमेरिका/कनाडाः +1-9177205124

ईमेल : geetameparmoguru@gmail.com,
drrajeshkumarbhatia@gmail.com, realdocraj@gmail.com

सहयोगः भारत : ₹ 250/- अमेरिका/कनाडा : US$ 10

ISBN : 978-93-88278-85-0

प्रथम संस्करण	:	सन् 2020
सर्वाधिकार लेखकाधीन	:	डॉ. राजेश कुमार भाटिया
प्रकाशक	:	अनुराधा प्रकाशन दूरभाष : 011-28520555 चलभाष : 09213135921
ईमेल	:	***anuradhaprakashan@gmail.com***
वेबसाइट	:	***www.anuradhaprakashan.com***

GEETA ME PARMOGURU by Dr Rajesh Kumar Bhatia